देखा-परखा

[निबन्ध]

इलाचन्द्र जोशी

मूल्य : २.५० रुपये
प्रथम संस्करण : मई १९५७
आवरण : नरेन्द्र श्रीवास्तव
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली.
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली.

क्रम

आज का साहित्य

आज साहित्य का प्रश्न जीवन से सम्बन्धित दूसरे बहुत-से प्रश्नों से उलझकर इस कदर जटिल बन गया है कि उसकी कोई सहज-सरल परिभाषा संतोषजनक नहीं हो सकती। प्राचीन काल में कोई भी साहित्य-व्याख्याकार या आलोचक केवल तीन शब्दों में साहित्य की ऐसी परिभाषा प्रस्तुत कर सकता था जो साधारण से साधारण साहित्य-प्रेमी से लेकर बड़े से बड़े साहित्य-स्रष्टा तक को समुचित और संतोषप्रद लग सकती थी। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—रसात्मक वाक्य ही काव्य है—काव्य-साहित्य की इस सूत्रगत परिभाषा के औचित्य को लेकर कभी किसीने कोई शंका नहीं उठायी। पर आज के आलोचकों को काव्य का यह मापदंड अत्यन्त संकीर्ण, संकुचित और बचकाना लगता है। इस दृष्टि से कोई भी रसात्मक वाक्य या पूरा पद्य, फिर चाहे उसका रस कितना ही छिछला क्यों न हो, काव्य-कोटि तक आसानी से पहुँच सकता है। यदि इस बात को निर्विवाद मान लिया जाय तो साहित्य की सारी समस्याएँ सरल हो जाती हैं और हर गली और हर कूचे में आपको कवि ही कवि और साहित्यकार ही साहित्यकार दिखाई दे सकते हैं।

पर आज का साधारण पाठक भी इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं हो पाता। वह किसी कविता या अन्य साहित्यिक कृति से और भी बहुत-सी शर्तों की पूर्ति चाहता है। जो साहित्यिक कृति उसे जीवन की गहराइयों में नहीं ले जाती, आज के जटिल जीवन की उलझी हुई समस्याओं को

सुलझाने में उसकी सहायता नहीं कर पाती, उसकी एकरसता उसे अपनी ओर आकर्षित कर सकने में असमर्थ सिद्ध होती है। एक जमाना था जब कवि के अन्तर से निकला हुआ एक साधारण चमकदार उद्‌गार भी किसी श्रोता या पाठक को मंत्र-मुग्ध कर सकता था, एक सामान्य रसमयी उक्ति भी उसके मन को उद्वेलित और भाव-विह्वल कर देती थी। पर आज के बुद्धिवादी श्रोता या पाठक की अंतरानुभूति के ऊपर जैसे एक कड़ी झिल्ली की पर्त जम गयी है जो किसी साधारण रस को सहज ही में भीतर नहीं प्रवेश होने देती। जब तक आज के जीवन की गहन और व्यापक अनुभूतियों से प्राप्त रसत्व कवि या साहित्यकार के अन्तर के मूल रस में घुलकर एक-रूप होकर एक तीव्र रसायन की सृष्टि नहीं करता, तब तक वह आज के आलोचना-परायण श्रोता या पाठक के अन्तर की उस कड़ी झिल्ली के सूक्ष्म कोषों से होकर, छनकर उसकी रसानुभूति से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता।

पिछले तीन दशकों में संसार में सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में जो व्यापक क्रांतियां हुई हैं, वैज्ञानिक क्षेत्र में जो आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के कूटचक्रों ने जीवन की सहज गति को जिन जटिल जालों में जकड़ लिया है, उन सबका सम्मिलित प्रभाव विश्व-साहित्य पर भी तीव्र रूप से पड़ा है। भारतीय साहित्य भी स्वभावतः इस युग-विवर्तक प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता था। हिन्दी साहित्य में आज हम जो एकदम नया परिवर्तन देखते हैं, उसके मूल में तीव्र गति से परिवर्तित होने वाली नयी सामाजिक परिस्थितियां ही हैं।

आज हम देखते हैं कि साहित्य के सम्बन्ध में पिछली मान्यताओं को तनिक भी महत्व नहीं दिया जा रहा है। रामायण और महाभारत तो आज प्रेरणा के स्रोत रहे ही नहीं। कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ आदि प्राचीन तथा आधुनिक युग के महानतम कवियों की रचनाओं को भी नये कवियों तथा लेखकों ने एक प्रकार से बहिष्कृत-सा कर दिया है। आज के कवियों के प्रेरणा-स्रोत हैं एजरा पौंड, ईलियट, आडेन आदि

पाश्चात्य कविगण। इन कवियों ने कविता के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये हैं, नये युग की नयी परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार कविता में रूपगत और शैलीगत नये प्रयोग किये हैं। उनके सभी प्रयोग सफल हुए हैं, ऐसा मानना भयंकर भूल होगी। पर इतना निश्चित है कि उन्होंने पुराने ढांचों में बंद पड़ी कविता की रुद्ध धारा को एक नयी गति दी है और एक नया पथ-प्रदर्शन किया है।

उन्नीसवीं शती तक सारे संसार की विभिन्न भाषाओं में अधिकांशतः छन्दोबद्ध कविताएँ लिखी जाती थीं। उन्नीसवीं शती के चौथे चरण में वाल्ट ह्विट्मैन ने मुक्तछंद में अपने अन्तर के भावों और विचारों को उन्मुक्त उड़ान देना आरम्भ कर दिया। उसने औद्योगिक क्रान्ति के नये युग के अनुसार अपने अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति के लिये एक नया ही माध्यम खोजा। उसके बाद प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया और मार्क्स तथा फ्रायड द्वारा प्रचारित मूलतः नये सिद्धान्तों के फलस्वरूप कविता धीरे-धीरे मुक्त छन्दों के बन्धनों से भी अपने को अलग करने लगी। पिछली परम्पराएँ ढहकर एक नये ही मौलिक वातावरण के निर्माण-कार्य में जुट गयीं। कविता केवल अन्तर्जगत के भावोच्छ्वास की अभि-व्यंजना का साधनमात्र न रहकर नयी-नयी दिशाओं में नयी-नयी चिन्ता-धाराओं को वहन करने योग्य माध्यम बन गयी।

केवल कविता के क्षेत्र में ही नहीं, कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी नये-नये प्रयोग होने लगे। पहले जेम्स ज्वाइस, डी० एच० लारेन्स आदि ने इस दिशा में नये क्रान्तिकारी कदम उठाये और बाद में जो पाल सार्त्र ने उनसे भी जटिल और परम्परारहित शैली में कहानी, उपन्यास और नाटक लिखने शुरू कर दिये। व्यक्ति के अन्तर की विश्रृङ्खल प्रवृत्तियां समष्टिगत चेतना की उलझनों से टकराकर विचित्र-विचित्र रूपों में अपने को व्यक्त करने लगीं। विभिन्न साहित्यिक धाराओं का विकास सहज स्वाभाविक पथों से न होकर टेढ़े-मेढ़े और अनिश्चित रास्तों से होने लगा।

उसके बाद आया द्वितीय महायुद्ध, जिसके फलस्वरूप सारे संसार की भीतरी और बाहरी शक्तियां जुटकर दो शिविरों में विभाजित हो गयीं। समग्र मानवता सिकुड़कर, सिमटकर दो बड़े गुटों में बँट गयी। राष्ट्रीयता की बिखरी हुई धाराएँ अन्तर-राष्ट्रीयता के दो महासागरों में मिलकर एकाकार होने लगीं। पारस्परिक हिंसा-प्रतिहिंसा का व्यापक चक्र मानव की सामूहिक भाव-चेतना को इस बुरी तरह झकझोरने लगा कि विनाश और विध्वंस की आग में युग-युग के कठिन प्रयोगों और कठोर साधनाओं द्वारा उपलब्ध महान मानवीय आदर्श स्वाहा होने लगे। इन्हीं विश्व-व्यापी तांडवीय प्रवृत्तियों के फलस्वरूप अणु में विस्फोट पैदा करने की प्रक्रिया से मनुष्य परिचित हो गया, जिसका परिणाम हमने पहले अणु बम के आविष्कार के रूप में देखा और बाद में हाइड्रोजन बम जैसे प्रलयंकर अस्त्र के रूप में।

विकराल से विकराल अस्त्रों के निर्माण के क्षेत्र में जैसी दौड़ आज संसार की महाशक्तियों के बीच देखी जा रही है, उसने सामूहिक मानव-मन से शांति, सुरक्षा और नैश्चित्य की भावनाओं को आँधी के वेग से उड़ा दिया है। आज केवल भौतिक क्षेत्र में ही अणु विस्फोट नहीं हुआ है, वरन् सामूहिक मानव-मन के चेतन के अणुओं के भीतर भी विस्फोट उत्पन्न हो गया है। यही कारण है कि आज सभी दिशाओं में मनुष्य की प्रज्ञा बिखरकर छितरा गयी है।

ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक है कि साहित्य समुचित रूप में पनप नहीं सकता। आज विश्वव्यापी साहित्यिक संकट का सुस्पष्ट प्रभाव हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी दिखाई देता है। आज हम अपने साहित्यकारों में एक ओर पिछली मान्यताओं के प्रति अविश्वास पाते हैं, दूसरी ओर वर्तमान के सम्बन्ध में अनैश्चित्य और तीसरी ओर भविष्य के सम्बन्ध में भय, संशय और अन्ध आशंका। साहित्य के रूप, शैली, भाव और विचार-तत्त्व में ऐसे नये-नये परिवर्तन आते चले जा रहे हैं कि उनका मूल्यांकन ठीक से हो सकना अभी सम्भव नहीं दिखता। वैसे

परिवर्तन जीवन का नियम है। साहित्यिक शैलियों और भाव-धाराओं में विभिन्न युगों में परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल की जो साहित्यिक शैली थी उसका कोई भी आभास हम रामायण के युग में नहीं पाते। रामायण-युगीन भावधारा और महाभारतकालीन भावधारा में बहुत बड़ा अन्तर है। कालिदास के युग की शैली पिछले सभी युगों की शैलियों से भिन्न थी। तुलसीदास के युग की साहित्य-शैली का मेल पिछली किसी भी साहित्य-शैली से नहीं मिलता। परिवर्तन का यही क्रम रीतिकाल, भारतेन्दुकाल, द्विवेदी युग और छायावाद युग तक चला गया। इसलिए यदि आज के युग में भी हम साहित्य-शैली, भाव-भूमि तथा विचार-धारा में पिछले सभी युगों से अन्तर पाते हैं तो साधारणतः हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए और न किसी प्रकार का क्षोभ ही।

पर आज के युग की परिवर्तन-धाराओं की प्रक्रिया और क्रम में बड़ा अन्तर है। पिछले साहित्यिक युगों में जब-जब नये परिवर्तन देखे गये तब-तब साहित्य-पारखियों ने इस बात पर गौर किया कि इन परिवर्तित रूपों के भीतर पिछली शैलियों तथा भाव-धाराओं के बीजतत्व किसी न किसी रूप में वर्तमान थे। पर आज के साहित्य के बदले स्वरूपों में हमें पिछले साहित्यिक युगों के कोई भी चिह्न अवशिष्ट नहीं दिखते। एक मूलतः नयी धारा नाना उपधाराओं में विभाजित होकर आज की साहित्य भूमि को एक विजातीय बाढ़ में डुबाती चली जा रही है। यह बाढ़ अपने देश की साहित्यिक परम्परा से नहीं आयी है। इसका उद्‌गम आज के युग की पाश्चात्य साहित्य-शैलियों की विकृतियों में खोजना होगा।

पर आज के नवीनतम साहित्य का मूल उद्‌गम स्रोत चाहे कहीं हो, उसमें चाहे कैसी ही विचित्र और परम्परा-रहित प्रवृत्तियाँ क्यों न पायी जाती हों, उसके समुचित मूल्यांकन में चाहे कैसी ही कठिनाइयाँ उपस्थित क्यों न हो रही हों, उसके प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण रखना बहुत आवश्यक है। क्योंकि भविष्य के स्वस्थ और ठोस साहित्य का

निर्माण आज के नये साहित्य के भीतर यत्र-तत्र छिपे हुए सशक्त बीजों के आधार पर ही होगा।

यह बात भी विचारणीय है कि आज के नये साहित्य की प्रवृत्तियों का स्वरूप क्या है। सब से पहले कविता को लीजिये। आज की कविता ने छन्द-बन्धन से अपने को एकदम मुक्त कर लिया है। पर मुक्त छन्द में लिखने का फैशन हिन्दी में भी कोई नयी बात नही है। निराला जी इसका प्रयोग बहुत पहले कर चुके हैं। इसलिये हम इसे नयी प्रवृत्ति की विशेषता नहीं मानेंगे। पर नयी कविता केवल मुक्तछन्द में ही लिखी जाती है, ऐसी बात नहीं है। बहुत-सी नयी कविताएँ ऐसी पक्तियों में लिखी जाती है जिन्हें विशुद्ध गद्य के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। मुक्तछन्द छन्दोबन्धन से मुक्त होने पर भी लय से मुक्त नहीं होता। पर आज की अधिकांश कविताएँ जिस ढँग से लिखी जाती हैं उनमें लय का भी नितांत अभाव पाया जाता है। अतएव वे विशुद्ध गद्यात्मक रचनाएँ हैं। तब उन्हें कविता क्यों कहा जाता है? छायावादी युग में कुछ लोग तथाकथित गद्यकविताएँ लिखा करते थे। क्या आज की गद्यात्मक नयी कविता को भी गद्य-कविता की संज्ञा नहीं दी जा सकती? अवश्य दी जा सकती है। पर उस युग की गद्य-कविता और इस युग की गद्य-कविता में बड़ा अन्तर है। आज की कविता की भाव-भूमि तथा पिछली कविता की भाव-भूमि में कोई भी समान आधार नहीं है। उस युग की गद्य-कविता में रहस्यवादिता का पुट काफी रहता था, जबकि आज की नयी कविता यथार्थवाद की जमीन पर खड़ी है। भावात्मकता किसी न किसी रूप में उसमें भी वर्तमान रहती है, पर उसका स्थायी भाव व्यंग्य होता है।

इसलिए आज की कविता न तो पुरानी परिभाषा के अनुसार पद्य है न गद्य। विशुद्ध गद्य उसे इसलिए नहीं मानेंगे कि उसकी अभिव्यंजना के भीतर प्रायः एक ऐसा निराला भावात्मक रस सन्निहित रहता है जो लय न रहते हुए भी उसमें लयात्मकता का आभास भर देता है। प्रथम

कोटि के नये कवि इस कला में माहिर हैं। और वास्तव में यह एक जादू भरी कला है—शब्दों की विशिष्ट संयोजना द्वारा नहीं बल्कि केवल भाव द्वारा कोरे गद्य में गति और लय भर देना। इन्हीं सब कारणों से आज की नयी कविता के सम्बन्ध में जल्दी से किसी प्रकार का फतवा दे देना आसान नहीं है।

कथा-साहित्य में भी आज नये प्रयोग हो रहे हैं, और ये नये प्रयोग भी आज के पाश्चात्य साहित्य की कुंठित मनोधारा से उत्पन्न विशृङ्खल शैलियों से प्रभावित हैं। इन शैलियों में नयापन अवश्य वर्तमान है और वे आज के जीवन की विषमता और विशृङ्खला पर चुभते हुए व्यंग्य कसने के लिए बहुत उपयुक्त भी हैं। पर इस प्रकार के ढांचे में कोई महान युग-दर्शक और युगांतरकारी रचना सम्भव नही। फिर भी इस सत्य से आँख बचाकर हम नहीं चल सकते कि आज के कथा-साहित्य के छिटपुट प्रयोगों द्वारा हमारे नये कथाकार पूरी सचाई से एक ऐसे माध्यम की खोज में भटक रहे हैं जो नये युग की नयी प्रवृत्तियों के चित्रण और विश्लेषण द्वारा उन्हीं के भीतर से एक महान् सत्य को आविष्कृत कर सके—ऐसा सत्य जो युग का सच्चा दर्पण बनने के साथ ही युगोत्तर के महान् समन्वयात्मक ध्येय की ओर प्रकाश फेंक सके।

हिन्दी क्षेत्र में उपयुक्त रंगमंच के अभाव के कारण नाट्य-साहित्य में विशेष प्रगति न हो सकी। पर रेडियो के माध्यम से एक नयी नाट्य-कला उत्तरोत्तर विकसित होती चली जा रही है। नाट्य तत्व मूलतः एक ही है—चाहे उसकी अभिव्यंजना रेडियो के माध्यम से हो अथवा मंच के माध्यम से। अन्तर केवल इतना ही है कि मंच-नाट्य प्रधानतः दृश्य काव्य होता है जबकि रेडियो-नाट्य विशुद्ध श्रव्य काव्य है। नाटकीय कला के समुचित विकास के लिए दोनों माध्यम महत्वपूर्ण हैं। और यदि तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो आज के व्यस्त और बिखरे हुए जीवन की यथार्थ झांकियों के लिए रेडियो-नाट्य का ही महत्व अधिक सिद्ध होगा। इसलिए जब तक हिन्दी रंगमंच का पर्याप्त

विकास नहीं हो पाता तब तक हमें रेडियो नाटकों से ही सन्तोष कर लेना होगा। और, जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ, इस दिशा में हिन्दी-नाट्य ने काफी प्रगति कर ली है।

आलोचना के क्षेत्र में आज का हिन्दी साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। न तो आज साहित्य के नित्य बदलते हुए रूपों का समुचित मूल्यांकन हो पा रहा है और न पिछले साहित्य का सिंहावलोकन ही ईमानदारी से हो रहा है। हमारे आलोचक स्कूलों और कालेजों में पढ़ाने वाले और छात्रों को परीक्षाओं से सम्बन्धित नोट लिखाने वाले साधारण अध्यापकों की सीमित दृष्टि से आगे बढ़ सकने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। आज आलोचक का दायित्व कितना बढ़ गया है, इस तथ्य पर वे गहराई से विचार करना ही नहीं चाहते। आलोचक का कर्त्तव्य केवल विविध साहित्य-धाराओं की प्रगति या विकृति का इतिहास बना देना भर नहीं है; और विविध साहित्यिक धाराओं अथवा कुछ विशिष्ट रचनाओं पर मनमाना फतवा दे देने से ही आलोचना का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक आलोचना के भीतर वही सर्जनात्मक प्रेरणा निहित होनी चाहिए जैसे किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति में। सच्चा आलोचक भी कवि या कलाकार की तरह द्रष्टा होता है। जब तक उसमें प्रेरणात्मक दृष्टि या 'व्हिजन' नहीं होता तब तक उसकी महत्ता प्रमाणित नहीं हो सकती।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी में आज आलोचक द्रष्टाओं का नितांत अभाव है। यही कारण है कि आज हम आलोचना के क्षेत्र में न तो गहराई पाते हैं न ईमानदारी। ऐसी अराजकता छाई हुई है कि विभिन्न साहित्यिक धाराओं पर सहज और सुस्पष्ट प्रकाश पड़ने के बजाय विभिन्न आलोचकों की कुण्ठित वैयक्तिक रुचियाँ एक दूसरे से टकराती और भिड़ती हुई पायी जाती हैं।

इस संकीर्णता और रुचि-विकृति के कई कारणों में से एक यह है कि हमारा आलोचक-समाज, हमारे नये कवियों तथा कलाकारों की तरह,

आज के गलनशील (बल्कि कई अंशों में एकदम गलित) पाश्चात्य साहित्य तथा साहित्यालोचन-पद्धति से पूर्णतया प्रभावित है। किसी भी गलनशील कलात्मक प्रवृत्ति का मादक प्रभाव कैसा विकट होता है ; इसका अनुमान फिल्मी कला की निरन्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता से लगाया जा सकता है। हमारे नये साहित्यकार तथा साहित्यालोचक आज की गलनशील पाश्चात्य साहित्य-धाराओं और साहित्य-शैलियों की ऊपरी तड़क-भड़क से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उनकी मौलिक विवेचना की शक्ति ही जैसे उस मादक रस से गलती और विकृत होती चली जा रही है। उनमें किसी ऐसी सशक्त और मौलिक साहित्य-प्रतिभा के समुचित मूल्यांकन या रस-ग्रहण की समर्थता ही जैसे शेष नहीं रह गयी है, जो आज के पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से एकदम अछूती हो और जो उत्तरोत्तर विकासशील और सर्व-समन्वयात्मक भारतीय प्रतिभा के सहज विकास का स्वाभाविक परिणाम हो। आज भारतीय साहित्य-समाज के भीतर कुछ स्वस्थ और सशक्त बीज अपनी ही मिट्टी के उत्पादक रूप-तत्वों द्वारा पनप कर अपनी ही नयी शैली, नयी कला और नया सन्देश देने के लिये छटपटा रहे हैं। उनकी नाप-जोख आज की गलित और संकुचित पाश्चात्य कला तथा आलोचन-शैली के आधार पर करना किस कदर हास्यास्पद है; यह बात आज के नये साहित्यकारों और साहित्यालोचकों के आगे एक दिन निश्चय ही सुस्पष्ट हो जायगी, और तभी हिन्दी-साहित्य की वास्तविक नयी प्रगति के युग का आरम्भ होगा।

आज की नयी कविता युग की द्रुत गति से बदलती हुई आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की उपज है। इन राष्ट्र-व्यापी—बल्कि विश्वव्यापी...नयी परिस्थितियों की ओर से आँखें बन्द कर लेने का परिणाम यह होगा कि यहां के कवि अपनी चहारदीवारी को संकीर्ण से संकीर्णतर बनाते चले जायंगे और अन्त में वे कूप-मण्डूकता के शिकार बन सकते हैं। इसलिए इस बात की बहुत बड़ी

आवश्यकता है कि वे नयी कविता की प्रगतिधारा के सम्बन्ध में पूर्णतः जागरूक रहें और उसके दुर्गुणों से अपने को बचाते हुए उसके अच्छे गुणों को धीरे-धीरे आत्मसात करते चले जायें। क्योंकि इतना तो निश्चित है कि नयी कविता अपनी खामियों के बावजूद युग की एक बहुत बड़ी शक्ति को अपनी अन्तर्धारा के साथ वहन करती चली जा रही है।

अन्त में मैं नये युग के सभी हिन्दी कवियों और लेखकों से निवेदन करना चाहता हूँ कि वे समय रहते अपने नये दायित्वों को अच्छी तरह समझें और उन पर गहराई और ईमानदारी से तटस्थ और व्यापक दृष्टि से सोचें। आज जो विभिन्न दलों के साहित्यकार एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने और अपने-अपने दल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हुए अपने-अपने नायकत्व का झण्डा गाड़ने की ओर प्रवृत्त हैं, यह प्रवृत्ति अन्ततः किसी के लिये भी कभी हितकर सिद्ध नहीं होगी। वह प्रवृत्ति जितनी ही साहित्य-घाती है उतनी ही आत्मघाती भी। आज साहित्यकारों के लिए इस नारे को हृदयंगम और बुलन्द करने की बहुत बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है कि 'संगच्छध्वं, संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्'।

आज सारे संसार की आँखें भारतीय साहित्यकारों की ओर लगी हुई हैं। आज पाश्चात्य जगत के सभी सहृदय और सच्चे साहित्यकार अपने यहां के साहित्यिक वातावरण की गलनशीलता और गत्यावरोध से घबराकर जाने अनजाने दिशा निर्देशन के लिए भारतीय कवियों और साहित्य कलाकारों की ओर अत्यन्त उत्सुकता से और आशा भरी दृष्टि से देख रहे हैं। सारे विश्व के चिंतक आज यह अनुभव करने लगे हैं कि आज के अणु-शासित जीवन की घोर विषमता और विशृङ्खला में यदि सामंजस्य का सच्चा और प्रभावपूर्ण सन्देश कहीं से आ सकता है तो वह केवल भारत से। आज चारों ओर के दंभ, अज्ञान, भय, संशय, बौद्धिक जड़ता और आत्मविनाशी हठकारिता के अन्तरराष्ट्रीय अन्धकार-

पूर्ण वातावरण में यदि नये सांस्कृतिक प्रकाश की किरणें कहीं से फूट सकती हैं तो केवल भारत से। एकमात्र परम्परागत भारतीय प्रतिभा ही अपने सर्वग्राही विराट दृष्टिकोण के कारण इस योग्य सिद्ध हो सकती है कि आज के संसार की विकट रूप से उलझी हुई विध्वंसक प्रवृत्तियों को शान्ति, शृङ्खला और सामजस्य की ओर मोड़ सके।

ऐसी स्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि हमारे नये साहित्यकार पाश्चात्य साहित्य की ह्रासोन्मुखी और गलित प्रवृत्तियों का अन्ध अनुकरण छोड़कर अपनी ही परम्परागत राष्ट्रीय प्रतिभा के सशक्त बीजों के समयोचित विकास की ओर ध्यान केन्द्रित करें और उन्हीं के माध्यम से साहित्यिक प्रगति की ओर सचेष्ट हों।

छायावादी छाया और प्रकाश

छायावाद ने हिन्दी काव्य-जगत् में जो युगान्तर उत्पन्न किया, उसके प्रबल तरङ्गाभिघात से हमारी साहित्य-धारा की प्रगति ही एकदम बदल गयी। गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दी-संसार में प्रथम बार क्रान्ति उत्पन्न की थी। उसके बाद बीच का दीर्घ तीन सौ वर्षव्यापी काल कृत्रिम काव्य-कला की कौतुक-क्रीड़ा-जनित विफल विस्फूर्जन तथा व्यर्थ आस्फालन का युग रहा है। उस निर्मम कृत्रिमता के प्रति वास्तविक कवि-हृदय का विद्रोह दीर्घकाल से अन्तरिक्ष में संचित होता चला आता था। वर्तमान युग में नाना बाह्य संघर्षणों तथा अन्तरावेगों के कारण वह शत-शत धाराओं में उच्छ्वसित निर्मुक्त होकर वेग से, अविराम गति से फूट निकला है। हिन्दी साहित्य में यह द्वितीय बार वास्तविक क्रान्ति की लहर उमड़ पड़ी है। विरोधियों ने इस परिपूर्ण प्लावन की गति को सर्वतः अवरुद्ध करने की चेष्टा में कोई बात उठा नहीं रखी, पर इस अदम्य सत्य की प्रचण्ड संघूर्णन-शक्ति का प्रतिरोध करने में वे किसी प्रकार भी समर्थ न हो सके। सत्यमेव जयते ना नृतम्। छायावादी कविगण अपनी अन्तरात्मा की वास्तविक वेदना लेकर आविर्भूत हुए थे, इसलिए उनकी विजय अनिवार्य थी, आज उनके विरोधियों को भी उनके आगे नतमस्तक होना पड़ा है।

'छायावादी' युग में हिन्दी का रोमांटिक युग प्रारम्भ हुआ।

रोमांटिसिज्म क्योंकर हिन्दी में 'छायावाद' के नाम से प्रचलित हो गया, इस रहस्य का उद्घाटन करने का काम मेरा नहीं है। तथापि इस सम्बन्ध में मेरी जो कुछ धारणा है, उसे मैं थोड़े शब्दों में व्यक्त कर देना चाहता हूँ। 'छायावादी' कविताओं के प्रचलन के पहले हिन्दी में दो प्रकार की कविताएँ छपा करती थीं। एक तो नायक-नायिका-भेद-प्रदर्शन तथा नख-सिख वर्णन की पुरानी पद्धति के अन्ध अनुकरण में लिखी गयी कविताएँ और दूसरी कोरी वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक कविताएँ। इनमें प्रथम प्रकार की कविताएँ तो जूठी कविताओं की भी जूठन होती थीं और उनमें न प्राणों की कोई वेदना और न किसी प्रकार का जीवन-संवेग ही रहता था। और दूसरे प्रकार की कविताएँ बच्चों के खिलवाड़ की कोरी तुकबन्दियों के अलावा कुछ भी नहीं थीं।

हिन्दी-संसार के साहित्य-रसिकगण 'प्रसाद गुण' समन्वित, 'सुस्पष्ट' बोधगम्य कविता के स्वच्छ सरोवर में विहार करने के आदी हो गये थे। इस प्रकार के पद्यों में तुकों का धाराप्रवाह अच्छा रहता था जो उस युग के अल्प-संस्कृत पाठकों के मनों में गुदगुदी-सी पैदा करता था और उनका अर्थ समझने के लिए उन्हें माथा खपाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती थी (और हिन्दी-संसार में इस समय भी ऐसे साहित्यिकों की कमी नहीं है जो केवल इसी एक गुण को किसी कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण समझते हैं।) अतएव जब उनके सम्मुख अन्तरात्मा की वास्तविक तथा निगूढ़ वेदना से प्रसूत कविताएँ नये रूप में तथा नये आकार में आने लगीं तो उन्हें विचित्र रहस्यपूर्ण, अस्पष्ट तथा छायात्मक प्रतीत हुई। अचानक इस प्रकार की कविताओं की बाढ़-सी आते देख वे घबरा उठे, और इस घबराहट में उन्हें कुछ सूझ न पड़ा कि इस श्रेणी की कविताओं को क्या नाम दिया जाय। कोई एक नाम देना परमावश्यक हो उठा, क्योंकि 'वास्तविक' कविताओं (अर्थात् सरल तुकबन्दियों) को इन 'अवास्तविक' तथा अर्थहीन कविताओं की बाढ़ से बचाने, उनके संसर्ग से सुरक्षित रखने के लिए ऐसा करना जरूरी समझा गया। फलस्वरूप

नये ढर्रे की कविता का नाम पड़ा छायावादी कविता और इस श्रेणी की कविता की भावधारा का नाम पड़ा 'छायावाद'। यह नाम यद्यपि पीछे स्वयं छायावादी कवियों ने प्रशंसात्मक दृष्टि से स्वीकृत कर लिया, पर वास्तव में यह नयी शैली की कविता के विरोधियों द्वारा घृणात्मक दृष्टि से रखा गया नाम है। 'छायावादी' शब्द से उन लोगों का तात्पर्य यह जताने का था कि नवीन कवियों की कविता में भावों की वास्तविकता नहीं, बल्कि उसकी छायामात्र रहती है।

वर्तमान समय में 'छायावाद' बहु-विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थ में व्यवहृत होता है। कोई कविता चाहे रोमांटिक हो चाहे रहस्यवादी, चाहे गीतात्मक, वह 'छायावादी' ही कही जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि उच्चकोटि की 'रोमाण्टिक' कविता में 'रहस्यवाद' की पुट किसी न किसी अंश में रहना अनिवार्य है तथापि इस समय विशुद्ध 'रहस्यवादी' कविता के दो ही एक आचार्य हैं, जिनमें श्रीमती महादेवी वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पन्त जी के 'पल्लव' में, जो छायावाद युग की प्रमुख प्रवर्तक रचनाओं में से है, विशुद्ध रोमाण्टिक रस छलकता है पर 'गुञ्जन' में उनका खिचाव आदर्शात्मक रोमाण्टिसिज्म की ओर अधिक जान पड़ता है। अपनी नवीनतम रचनाओं 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण धूलि', 'युगपथ', 'उत्तरा' आदि में वह आदर्शात्मक, उदात्त और बहुमुखी रहस्यवाद की ओर उन्मुख हुए हैं। प्रसाद जी ने 'आँसू' में छायावाद और रहस्यवाद का अच्छा मेल बिठाया था। बाद उनकी बहुमुखी प्रतिभा अपने चिंतन-क्षेत्र को इस तरह व्यापक और गहन बनाती गयी कि किसी एक विशेष भावधारा के भीतर उनकी कविता को नहीं बाँध सकते। निराला जी ने भी 'छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' दोनों को पूर्ण सफलता से अपनाया है, पर कहीं-कहीं पर वह इन दोनों 'वादों' से बहुत आगे बढ़ गए हैं और नयी-नयी शैलियों का प्रवर्तन करते रहे हैं।

कुछ भी हो मेरा तात्पर्य यह है कि पुराणपंथियों ने यद्यपि नयी शैली की कविता के विरोध में कोई कोर-कसर नहीं रखी, तथापि वे

अपनी चेष्टा में सर्वथा असफल रहे और अन्त में 'छायावाद' की माया का ऐसा सिक्का जनता पर जमा कि स्वयं पुराणपंथी कवि भी अन्यथा गति न देखकर उसी शैली को अपनाने के लिए बाध्य हुए। प्रसाद जी के गहन ज्ञान-रस, निराला जी की कविता के निरालेप, पंतजी की कान्त-कविता के ललित-लावण्य-विलास और महादेवी जी के गीत-वैभव ने काव्यरसिकों का दृष्टिकोण प्रसारित कर दिया और काव्य-सागर के किनारे उसके छिछले जल से क्रीड़ा करके संतुष्ट रहने वाले हिन्दी के आलसी शिशुओं को उसके गम्भीर भावों तथा अगाध रस के अगम अतल में डुबोकर ही छोड़ा। और अब इस रस-सागर में "अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दी की नवीन शैली की कविताओं का 'छायावादी' नाम एक प्रकार से सार्थक ही है। भले ही यह नामकरण किसी दूसरे ही दृष्टिकोण से हुआ हो, पर यह निश्चित है कि नयी शैली की प्रायः सभी कविताएँ 'छायात्मक' होती हैं। इस व्यक्त जगत के परे जो एक अदृश्य छाया प्रतिपल अपना झिलमिल रूप दिखाती रहती है, उसने हिंदी के प्रायः सभी कवियों को अपने अलौकिक रहस्य की मनोमोहकता के कारण प्रबल वेग से आकर्षित किया है। यह छाया क्या है? यह कोई भी नहीं बता सकता। यह अव्यक्त, अज्ञात तथा रहस्यमय है और चिरकाल ऐसी ही रहेगी। यही एक कारण है कि इसका आकर्षण भी कवियों के लिए इतना अधिक प्रवेगशाली है। वैदिक इसे निर्गुण, निरूप तथा अव्यक्त ब्रह्म कह सकते हैं, उपनिषदों ने उसे सब रसों का मूल माना है—"रसो वै सः" (वही रस है) ऐसा कहा है, सांख्य मत वाले उसे मूल प्रकृति कह सकते हैं जो अपनी मायामयी छाया की नाना रूप-रंग समन्वित अभिव्यंजना से निखिल विश्वात्मा को विमोहित किए हुए हैं; जड़वादी उसे कवियों का मिथ्या भ्रम तथा आत्मवञ्चक स्वप्नों की निरर्थक कल्पना कह सकते हैं। पर यथार्थ कवि तत्त्ववादी नहीं होता, इसलिए इस प्रकार के तात्त्विक विवेचनों में से किसी को भी

वह अधिक महत्व नहीं देना चाहता। इस 'छाया, के आविर्भाव का मूल कारण चाहे कहीं पर हो, वह चाहे उसी की मानस-प्रसूत आत्मवञ्चनामयी माया ही क्यों न हो, वह उसे निरन्तर अपनी नव-नव रहस्यमयी झलकों से, अपनी अज्ञात आवेशमयी, पुलक-हिल्लोलमयी प्रति पल आन्दोलित पलकों से, निखिल को विजड़ित करने वाली, विश्व-विसर्पित मनोहारी अलकों से विमुग्ध करती रहती है, तथापि स्वयं अपरिचित तथा अज्ञात ही रह जाती है। केवल यही तथ्य उसकी अन्तरात्मा में रस-स्रोत उद्वेलित करने के लिए पर्याप्त है। ब्रह्म अथवा माया, सत्य अथवा मिथ्या के झगड़े में पड़ने की न तो उसमें विशेष प्रवृतिविशेष ही होती है, न वह इस बात का निबटारा ही किसी से करवाना चाहता है। वह जानता है कि वह 'छाया' चाहे मिथ्या माया हो, चाहे कविता का भ्रामक स्वप्न, पर उसके लिए तो वह चरम तथा परम सत्य के रूप में क्षण-क्षण में परिलक्षित होती रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह इस चिर-विचित्रमयी छाया का अन्तर्भेद करने, उसके मूल-रहस्य से परिचित होने की इच्छा नहीं रखता। वह अवश्य उसकी निगूढ़ता का अन्तर्पट खोलना चाहता है, पर अपनी ही अनुभूति से, न कि किसी तात्त्विक के सिखलाये ज्ञान के बल पर। पन्तजी की 'छाया' शीर्षक सुन्दर कविता में कवि की इस चिर-सहचरी, आजीवन परिचिता तथापि चिर-अज्ञाता छाया के मर्मोद्घाटन की वेदना बड़े अच्छे ढंग से व्यक्ति हुई है। उसके कुछ अंशों को उद्धृत करने का लोभ मैं यहां संभाल नहीं सकता—

> खोलो मुख से घूँघट खोलो !
> हे चिर अवगुण्ठनमयि, बोलो !
> क्या तुम केवल चिर-अवगुण्ठन ?
> अथवा भीतर जीवन-कम्पन ?

◇ ◇ ◇

पट पर पट केवल अन्धकार,
पट पर पट खुले, न मिला पार।
सखि ! हटा अपरिचय अन्धकार
खोलो रहस्य के मर्मद्वार !
मैं हार गया तह छील-छील,
आंखों से प्रिय छवि लील-लील;
मैं हूँ या तुम, यह कैसा छल !
या हम दोनों, दोनों के बल ?

स्पष्ट है कि कवि छाया की भ्रामरी माया के चक्कर में पड़कर विचित्र उलझन में है। वह जानता है कि इस रहस्यमयी कुहकिनी के रहस्य का पता पाना असम्भव ही है, तथापि, उसके लीला-वैचित्र्य ने उसे इस प्रकार भुला रखा है कि यह सन्देह होते हुए भी कि कहीं वह झूठी माया तो नहीं है, वह उसका संग त्याग करने की तनिक भी इच्छा नहीं रखता और नाना विरोधी कारण होते हुए भी उसकी अन्तरात्मा उसी छाया को एकमात्र सत्य मानना चाहती है।

केवल हमारे छायावादी कवि ही नहीं, संसार के बहुत से श्रेष्ठ कवियों को प्रकृति की छायात्मिका मोहिनी ने लुभाया है, और यद्यपि वे लोग इस बात का निर्णय न कर सके कि वह स्वप्न है या सत्य, तथापि उसकी बहुरंगी लीला में वे उन्मुक्त आत्मा से सम्मिलित हुए हैं और इसी में उन्होंने अपने अन्तर की रसाकांक्षिणी प्रवृत्ति की चरम सार्थकता मानी है। कालिदास को 'मेघदूत' रचना की प्रेरणा तभी प्राप्त हुई थी जब वे इस छाया की माया के भुलावे में आये थे, अन्यथा उनमें कभी चित्रकूट पर्वत में यक्ष को खड़ा करके उससे छायात्मक मेघ द्वारा अपनी विरहिणी प्रिया को सन्देश पठाने के बहाने छाया की नवनव रूपमयी लीलाओं की विचित्रता का रस स्वयं पान करने तथा दूसरों का पान कराने की आकांक्षा जागरित न हो पाती। रवीन्द्रनाथ को इस छायात्मिका माया ने नाना रूपों से भुलाया है, जिनका मनोहर वर्णन उन्होंने अपनी विभिन्न

कविताओं में किया है। इस छाया का लीला-वैचित्र्य देखकर उन्होंने उसे 'चित्रा' नाम दिया है। अपनी 'चित्रा' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में वह इसी छाया के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"हे विचित्ररूपिणी ! तुम जगत् में कितने विचित्र रूपों में विचरण कर रही हो ! नीले गगन में तुम अमित आलोक से प्रभासित होती हो। कुसुम-कानन में पुलकित हो रही हो, द्युलोक और भूलोक में तुम चंचल-गामिनी अपने चल-चरणों के विलास मे तरंगित हो रही हो।

"अन्तर में तुम एकदम अकेली विराजती हो। मुग्ध सजल नयन में एक स्वप्न के समान, हृदय-वृन्त-शयन में एक पद्म के समान और असीम चित्त-गगन में एकाकी चंद्र के समान स्थिर हो, जबकि तुम्हारे चारों ओर चिर-यामिनी छायी हुई है।"

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में इंगलैण्ड तथा फ्रान्स के सभी रोमाण्टिक तथा मिस्टिक कवियों ने इसी 'चित्रा' की बहुविध अर्चना में अपना काव्य-भण्डार खाली किया था। इंगलैण्ड के वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, ब्राउनिङ्ग, टेनिसन आदि, तथा फ्रान्स में हूगो, लामार्तिन, बोदेलेयर आदि कवि इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। जर्मनी में गेटे अपने जगत्-प्रसिद्ध काव्यात्मक नाटक 'फौस्ट' में (विशेष करके द्वितीय भाग में) इसी चित्रा माया की छाया में पूर्णतः मग्न हुआ है और हाइने को तो आजीवन यह छाया भूत की माया की तरह प्रबल प्रवेग से अपनी ओर आकर्षित करती रही है।

विश्व-काव्य-साहित्य में छाया का जाल विस्तृत रूप से फैला हुआ होने पर भी हमारे कुछ साहित्यिक तथा अधिकांश साहित्यानुरागी पाठक-गण उससे परिचित न होने तथा परिचित होने का कष्ट उठाने की इच्छा न रखने के कारण हिन्दी की छायावादी कविताओं को समझ नहीं पाये और विश्व-साहित्य का ज्ञान न होने के कारण उन कविताओं को अर्थहीन कहकर उन्हें ठुकराने की विफल चेष्टा करते रहे हैं। 'छाया'

आखिर छाया ही है। वह जब स्वयं कवि के लिए रहस्यमयी सिद्ध होती है तो पाठकों को वह और भी अधिक गहन रहस्य से आवृत मालूम होगी, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'छायावादी' कविताएँ (मेरा आशय उच्चकोटि की छायावादी कविताओं से है) पागल के प्रलाप की तरह अर्थहीन होती हैं, यदि लोग चाहते हैं कि उनका अर्थ समझें तो उन्हें पहले विश्व-साहित्य का गहन अध्ययन करना होगा। तब जाकर वे उन कविताओं का यथार्थ रस ग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं।

हिन्दी के अनेक साहित्यिक तथा साहित्य-प्रेमी कविता में अस्पष्टता को एक बहुत बड़ा दोष मानते हैं, पर यह उनकी भ्रान्त धारणा है। भाषा की कृत्रिम जटिलता तथा शैली की कठोर कुटिलता के कारण जो कविता अस्पष्ट होती है वह वास्तव में निन्दनीय है, पर बहुत-सी उच्च-कोटि की कविताएं भावों की गहनता के कारण अस्पष्ट जान पड़ती हैं, इस श्रेणी की कविताओं की अस्पष्टता निन्दनीय नहीं, बल्कि अत्यन्त प्रशंसनीय समझी जानी चाहिए।

अस्पष्टता के अलावा वर्तमान हिन्दी कविता पर एक और दोष लगाया जाता है। लोग अक्सर कहा करते हैं कि छायावादी कवियों की कविताओं में घोर नैराश्य तथा गहन विषाद की प्रगाढ़ छाया पायी जाती है और जीवन का आनन्द, आशा तथा उल्लास की किञ्चित् झलक भी उनमें नहीं पायी जाती। हमारे नवीन कवियों के सकरुण क्रन्दन तथा मन्द मधुर वेदन के वर्णनों को वे लोग नपुंसकता तथा निर्जीवता की निशानी समझते हैं। वे लोग यह बात समझना नहीं चाहते कि प्राचीन-तम काल से कवि लोग करुण अथवा विषाद् रस को ही प्रमुख-रस मानते चले आये हैं। भवभूति जैसे श्रेष्ठ कवियों ने तो करुण रस को ही एकमात्र रस माना है (एको रसः करुणमेव); आदि-कवि वाल्मीकि की अन्तरात्मा में करुण तथा विषाद के भाव की प्रेरणा से ही काव्य-सागर

की अनन्त धाराएँ हिल्लोलित हो उठी थीं। महाभारत में, हमें काव्य की दृष्टि से द्रौपदी के चीर-आकर्षण तथा कीचक द्वारा अपमानित होने पर निस्सहायावस्था में उसके आर्त-विलाप, दमयन्ती की निदारुण निर्यातन-गाथा आदि करुण तथा विषाद रसपूर्ण घटनाओं में जो रस प्राप्त होता है, वह किसी वीर रसपूर्ण अथवा भोगविलासमय वर्णन में नहीं। इसके अलावा पाण्डवों का दीर्घ वनवास, कुरुक्षेत्र का युद्ध और इस महानाशक युद्ध की परिणति के बाद पाण्डवों का महाप्रस्थान आदि घटनाएँ करुण और विषाद-रस से भरी हैं। रामायण की सारी कथा विषाद के भाव से ओतप्रोत है। राम-वनवास की हृदय-विदारक घटना उस भाव के केन्द्र में स्थित है और सीता-वनवास की मर्मघाती घटना इस महाकाव्य को 'फिनिशिंग टच' दे देती है। तुलसीदास की रामायण में काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उस स्थान का वर्णन सबसे अधिक सुन्दर है, जहाँ पर कवि ने भरत की राम-विरहजनित व्याकुलता, अनुशोचना, रोदन-क्रन्दन के साथ-साथ उनका विह्वल प्रेमोन्माद वर्णित करते हुए अन्त में उस अवस्था में इसकी परिणति दिखायी है जब भरत वन में राम के समीप आकर—

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥

भरत के इस आर्त क्रन्दन तथा मोहमग्न अवस्था को भी हमारे 'धीर वीर गम्भीर' साहित्यालोचक नपुंसकता की ही निशानी बतायेंगे, पर कवि-प्राण रसिकजन इसी वर्णन में काव्य का चरम सौन्दर्य पाते हैं।

छायावादी कविता की अस्पष्टता, उसके रूपकमय रूप, विषाद रस आदि के सम्बन्ध में मैंने जो कैफियत पेश की है वह योंही नहीं। अंगरेजी की इस मशहूर मसल से सभी परिचित हैं कि दोषी आत्मा सदा शङ्कित रहती है। मेरा भी यही हाल है। मुझे भी यह शङ्का है कि विद्वज्जन मेरी कविताओं को पढ़कर मुझ पर ये ही दोष आरोपित करेंगे। क्योंकि यद्यपि मुझे अपनी कविताएँ जलवत् तरल और आलोक-रश्मिवत् सरल मालूम पड़ती है तथापि सम्भव है बहुत से पाठकों को वे

कठिन और कुटिल जान पड़ें। इसके अलावा मेरी अधिकांश कविताएं रूपकमय हैं और उनमें विषादरस की प्रबलता है। इसलिए मुझे वर्तमान हिन्दी कविताओं की आलोचना में उक्त 'दोषों' की सफाई देनी पड़ी है। पर केवल इतनी-सी सफाई से मेरा काम नहीं चलेगा। 'परिमल' की भूमिका में निराला जी का यह कथन मुझे अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ा कि अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका में स्वयं अपनी ही कविताओं के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद है। (निराला जी के शब्द मुझे याद नहीं हैं पर जहां तक मेरा खयाल है उनका आशय कुछ इसी प्रकार का था।) मैं इस प्रकार की चेष्टा की हास्यास्पद मूर्खता को भली-भांति महसूस करते हुए भी अपनी कुछ विशिष्ट कविताओं के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए इस कारण विवश हूँ कि मेरे कुछ साहित्यिक मित्रों ने मुझे इसके लिए अनुरोध किया है। अतएव मैं इस सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ।

सबसे पहले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मेरी कविताएँ छायावाद के युग की रचनाएँ हों पर ठीक छायावादी नहीं हैं। उनमें मैंने कुछ नये रस भरने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये मैं अपनी 'राजकुमार' शीर्षक कविता पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालना चाहता हूं। इस कविता के सम्बन्ध में साहित्य के कुछ पारखियों का कहना है कि छन्द-सङ्गीत, भाषा-लालित्य तथा रचना-वैचित्र्य की दृष्टि से कविता सुन्दर होने पर भी उसका रूपकात्मक भाव समझ में आना कठिन है। मेरी तुच्छ समझ में यदि पाठक विरोधी संस्कारों को मन से हटाकर कविता का यथार्थ भाव जानने की इच्छा से इसे पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा उसका मनोवैज्ञानिक रूपक अत्यन्त स्पष्ट तथा सरल है। उक्त कविता में एक निर्मल, निष्कलुष तथा निर्लिप्त आत्मा के उन्मेष, विकास तथा ह्रास का मनोवैज्ञानिक वर्णन रूपक-रस की दृष्टि से किया गया है। हिम की उज्ज्वल शुभ्रता को मैं सर्वदा पवित्रता का Symbol मानता आया हूँ। इसलिए मेरे राजकुमार की निवास भूमि :—

शुभ्र शान्त हिम-महिम असीम विजन में

होने से उसकी पारिपार्श्विक स्थिति उसकी निर्मल आत्मा के पूर्णतः अनुकूल है। जिन लोगों ने कभी जाड़ों में पहाड़ों पर बरफ़ गिरते हुए नहीं देखी अथवा कभी 'हिमालय' के दर्शन नहीं किये, वे इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि हिमराशि अथवा हिमानी की शुभ्र उज्ज्वलता क्या चीज़ है? यह बात बिना अतिशयोक्ति के कही जा सकती है कि अमावस्या की घन-मेघाच्छन्न अन्धकार रात्रि में भी ज़मीन पर बरफ़ बिछी हुई हो तो उस बरफ की सफ़ेदी के कारण चांदनी रात का भान होने लगता है, फिर चांदनी रात के सम्बन्ध में कहना ही क्या है। तब तो परिस्तान भी उस दृश्य के आगे नाचीज़ मालूम होता है। अस्तु। इस प्रकार की शुभ्र श्वेत नीहार-रश्मि के बीच 'हिम की स्फटिक शिला से रचित भवन में' नित एकाकी रहने वाले राजकुमार की निष्कलङ्क आत्मा नित उल्लसित रहेगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

हिम की केवल शुभ्रता ही पवित्रता की द्योतक नहीं है, बल्कि उसका शैत्य (ठण्डक) भी इसी भाव को जताता है। कवियों ने यौवनोन्माद की उपमा अग्नि से दी है और उत्कट काम-लालसा को लोग प्रायः कामाग्नि कहा करते हैं, इसके विपरीत कामेच्छा मे विरति को अंगरेजी में Frigidity कहते हैं, जिससे बरफ की तरह जम जाने का भाव व्यक्त होता है, शेक्सपियर ने भी 'As chaste as ice' (हिम के समान काम-वासना-रहित), इस भाव के द्वारा स्त्री की अकाम मनोवृत्ति का वर्णन किया है।

मेरे राजकुमार की आत्मा अपनी प्रभातकालीन अवस्था में हिम-मंडित असीम विजन में निर्जन-निर्वास की दशा में रहते और नित्य अपने भीतर तथा बाहर सर्वत्र एक ही निर्विचित्र रूप (अथवा यों कहिए कि अरूप—क्योंकि हिम की शुभ्रता का कोई रूप या रङ्ग नहीं होता—) के दर्शन करते हुए अलस शान्ति में मग्न रहती थी—

एक रूप प्रतिबिम्बित था उस मन में
प्रतिभासित थी हाय ! एक ही ज्योति ।
शून्य हृदय के उस निस्पन्द विजन में,
अलस शान्ति थी झूम-झूमकर सोती ॥

तथापि वह अपने आप में ही मग्न रहकर परिपूर्णता के उल्लास से उच्छ्वसित रहता था । यह दशा केवल मेरे राजकुमार की ही नहीं, वैदान्तिक भाषा में प्रत्येक जीवात्मा की प्रारम्भिक अकलुष अवस्था इसी प्रकार की होती है । पर धीरे-धीरे उस पर मायात्मिका प्रकृति अनेक रूप, बहुरङ्ग तथा रस वैचित्र्य का जाल फैलाने लगती है और वह अपनी निर्विचित्रता तथा एकरूपता से उकताने लगती है । मेरे राजकुमार का भी वही हाल हुआ । उस पर यौवन की रङ्गीनी छाने लगती है और वह जीवन की बहुरंगी वर्णच्छटा तथा नाना रूप-रस-गन्धमय लुब्धता की ओर धावित होने के लिए छटपटाने लगता है । उसकी इस अनन्त रङ्ग तथा अपार तरङ्गमयी अभिलाषा अथवा वासना की तृप्ति अलकापुरी के चिर-यौवनमय तथा सदा-बहार प्रदेश में ही अच्छी तरह हो सकती थी । इसलिए मैंने उसे वहीं लाकर रूप-रङ्ग, यौवन-उमङ्ग तथा अमर-अनङ्ग की मुक्त तरंग में जाकर खड़ा किया है । शुभ्र-हिम-महिम असीम विजन से, जहाँ चारों ओर केवल अनन्त प्रसारित हिम की एकरूपता के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता था, अलकापुरी के बहुरङ्गी मायामय लोक का अच्छा Contrast मुझे जान पड़ा ।

अलका में विविध रूप-रस-गन्ध की विचित्रता का मनमाना उपभोग कर चुकने के बाद राजकुमार अघाने लगता है और

धीरे धीरे एक कालिमा छाया
लगी हाय दोनों के मुँह में छाने;
अवश हुई लालस-रस विजड़ित काया,
कलुषित यौवन कली लगी कुम्हलाने ।

यौवनोन्माद ठण्डा पड़ने से केवल राजकुमार की आत्मा में ही क्रान्ति नहीं मची, उसकी परिपार्श्विक अवस्था में भी परिवर्तन होने लगा। उदाहरणार्थ कनक-शैल की दीप्ति अस्तङ्गत हुई, अलका की स्वर्ण-रेणु की रङ्गत किरकिरी हो गयी और वह तुच्छ धूलि-सी आकाश में उड़ने लगी। असल बात यह है कि रेणु वास्तव में स्वर्ण की नहीं थी केवल यौवन की माया ने उसे वह लोक-प्रवंचक रूप दिया था। यौवन की उमङ्ग शिथिल पड़ने पर सब चीजें अपने यथार्थ रूप में दिखायी देंगी, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है।

राजकुमार को फिर से अपने हिम-लोक, हिम-भवन और हिम-परियों की याद आने लगी और वह

बहुरङ्गी माया का तजकर अंचल
शुभ्र रूप के चरणों में रोने को

छटपटाने लगा। अर्थात् वह फिर से बहुरूपात्मिका प्रकृति के माया-जाल से छुटकारा पाकर अरूप की शुभ्र शान्ति में विलीन होने के लिए लालायित हुआ। लगन जो लगी तो वह माया-बन्धन तोड़कर उसी हिम-लोक की ओर लौट चला। पर हाय ! अब वहाँ का रास्ता ही भूल गया था और लाख स्मरण करने पर याद न आता था। कभी कण्टकाकीर्ण जङ्गलों में ठोकरें खाता, कभी गहनगह्वर युत गिरि पर चढ़ता, पर व्यर्थ भटकने के सिवा कुछ हाथ नहीं आता था। ज्यों-ज्यों वह विगत जीवन-पथ की ओर अग्रसर होता था त्यों-त्यों मानो अपने लक्ष्य से अधिक दूर हटता चला जाता था। यह जैसे किसी का वज्रशाप था जो किसी भी दुर्दमनीय प्रयत्न से टूट नहीं सकता था।

जो अनुभव मेरी कविता के रूपकात्मक राजकुमार को हुआ है, मेरी धारणा है कि अधिकांश भावुक व्यक्तियों को अपने जीवन में मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विकास में ठीक वैसा ही अनुभव होता है। शैशवावस्था से लेकर कैशोरावस्था तक भावुक व्यक्ति की आत्मा निष्कलुष जीवन की पुनीत धारा में निर्द्वन्द्वरूप से तरङ्गायमान होती रहती है और उसके अन्त-

जीवन का रूपरङ्ग-रहित निर्मल वातावरण शुभ्र पुण्य की स्वच्छ, सुशीतल, तुषारोज्ज्वल महिमा से मण्डित रहता है। पर जब धीरे-धीरे यौवन का मधुर-मोह अङ्ग-अङ्ग को अपने लालस आवेश से अलसित करने लगता है और तरुण करुण जीवन का बहुरंजित राग नयन-किरणों में मदिर तथापि करुण रूप से सरसाने लगता है तो उस चित्रात्मिका माया के नशे में उसकी सर्वात्मा मग्न हो जाती है। अन्त में प्रकृति के वज्र कठिन नियम के फलस्वरूप जब उसका उन्माद ढीला पड़ जाता है और आँखें खुलने लगती हैं तो अपनी अवस्था देखकर आतङ्कित हो उठता है और फिर से उसकी अन्तरात्मा अपने पुनीत कैशोर जीवन के स्निग्ध शान्त भोड़ में लौट जाना चाहती है। पर कोटि उपाय करने पर भी वह अपने विगत जीवन-मार्ग की ओर लौटने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता। वह पीछे की ओर देखता है, पर जिस पथ से वह यौवन के प्रांगण में आया था, वहाँ कण्टकाकीर्ण अरण्य का जटिल जाल फैला हुआ पाता है। वह समझ जाता है कि जीवन-चक्र ने उसे जिस अज्ञात पथ पर ला कर खड़ा कर दिया है उसके और कैशोर जीवन-लोक के बीच में वज्र-कठोर व्यवधान पड़ गया है। वह सर पटकता रह जाता है और जीवन के अन्त तक अन्धकार में भटकता ही रहता है।

मानव-जीवन की इस रहस्यमय आतङ्कोत्पादक, 'ट्रेजेडी' को अपनी 'राजकुमार' कविता में रूपक के बतौर चित्रित करने का प्रयास मैंने किया है। अपने इस प्रयत्न में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका विचार केवल गुणी जन ही कर सकते हैं।

'राजकुमार' की व्याख्या मैंने किंचित् विस्तृत रूप से इसलिए की है कि सहृदय तथा सुधी पाठकगण मेरी अन्यान्य कविताओं के रूपकों पर भी इसी ढंग से विचार करेंगे। दूसरी कविताओं के सम्बन्ध में मुझे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि अब पाठक मेरी कविताओं की रूपकात्मक शैली का स्वरूप समझ चुके होंगे। तथापि संक्षेप में दो-चार कविताओं के सम्बन्ध में कुछ संकेत कर देना चाहता हूँ।

'विजनवती' में मैंने विजन की उस अमूर्त मानस-प्रतिमा का 'ट्रेजिक' गीत गाया है जो मेरे लिये किसी मूर्तिमती जीवित प्रतिमा से भी अधिक सजीव तथा सत्य है।

'दमयन्ती' में मैंने 'दमयन्ती' के करुण जीवन की विषादमय छाया के Background में स्वयं अपने खिन्न मानस को प्रतिष्ठित करके उस विशेष कोण से जीवन के अनन्त आनन्दमय स्वप्नों का निःशेष उपभोग करना चाहा है। दमयन्ती को जिन स्वप्नों की माया से मैंने दिलासा देना चाहा है वे स्वयं मेरे नाना अभिघातों से विताड़ित जीवन के नाना रसात्मक आदर्शमय स्वप्नों के रूपकात्मक रूप हैं।

'नरक-निवासी' में मैंने अपनी उस मनोवैज्ञानिक अवस्था का बीभत्स वर्णन किया है जबकि मेरी समस्त अन्तश्चेतना घोर अन्धकारमय गहन गह्वर की आतङ्कप्रद विभीषिका में परिपूर्ण रूप से निमज्जित थी। मैं पुण्य-प्रकाश के लिये छटपटा रहा था. अन्धकार में टटोलता हुआ ऊपर आने का मार्ग ढूँढ़ रहा था, पर स्तर-स्तर पर दुस्तर प्रस्तरों का ऐसा वज्र कठोर अवरोध मेरे ऊपर पड़ा हुआ था कि उसे लांघना मैं असम्भव मालूम कर रहा था। तथापि उस भयावह घन-तमसाच्छन्न पङ्किलता में भी सुख-दुःखमय और चिर-प्रवाहशील मानव-जीवन की महान् विभूति पर अज्ञात रूप से वर्षित होती रहने वाली अमर-ज्योति की करुण किरण-धारा से मेरा अन्तर्मन निरन्तर आन्दोलित होता रहता था।

'महाश्वेता' शीर्षक कविता लिखने की प्रेरणा मुझे 'कादम्बरी' की 'महाश्वेता' के चरित्र से अवश्य प्राप्त हुई, पर इस कविता का मूल भाव औपन्यासिक महाश्वेता के व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं है। इसमें मैंने विश्वनारी के मंगलमय रूप के विभिन्न स्वरूपों का विचित्र सम्मिश्रण रूपकात्मक ढंग से व्यंजित करने की चेष्टा की है। महत् त्याग, अविचल सहिष्णुता, उज्ज्वल श्री, विह्वल ह्री, सकरुण सुकुमारता, सरस स्निग्ध स्नेहशीतला, शुभ्र तुषारोपम कठोर पवित्रता तथा प्रज्वलित वह्निसम दीप्त तेज का जो समन्वय कल्याणी या मातृजाति में वर्तमान है उसे मैंने

महाश्वेता के रूपक में बाँधने का दुस्साहस किया है।

'मायावती' में निखिल प्रकृति के क्रन्दनोच्छ्वास तथा हासोच्छ्वास-मय रूप की द्वन्द्वमयी लीला का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। यह द्वन्द्वभाव मुझे बाह्य प्रकृति तथा पुरुष और नारी की, अन्तः-प्रकृति दोनों में ही समान धाराओं में प्रवाहित होते हुए दिखाई दिया है।

'शकुन्तला' के सम्बन्ध में यद्यपि बहुत कुछ कहने की गुंजाइश है, तथापि मैं इसके विषय में यहाँ पर अधिक नहीं कहूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि कालिदास की इस मानस-कन्या को मैं बहुत पहले अपनी आदर्श मानसी प्रतिमा के बतौर अपनी आत्मा के अन्तःपुर में प्रतिष्ठित कर चुका था और उसे अपने हृदय-राज्य की महिमा-मण्डित रानी मान चुका था। इसलिए पति-प्रवञ्चिता, आश्रम-परित्यक्ता निर्वा-सिता नारी को उसकी चरम असहाय अवस्था में प्रदर्शित करके मैंने अपनी आत्मा में उसके प्रति अधिकाधिक समवेदना उभाड़नी चाही थी ताकि मैं उसकी स्वप्न-प्रसूत आत्मा को परिपूर्ण से अपनाकर उसे अपनी प्यारी 'ललिता' के तौर पर द्विधाहीन भाव से ग्रहण कर सकूं और युग-युग की महामहिम विश्वनारी के रूप में उसकी गौरव-गाथा गा सकूं। अपनी शेष कविताओं के सम्बन्ध में मैं अभी चुप रहना ही श्रेयस्कर समझता हूँ और मेरा ख़्याल है कि उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की कैफि-यत देने की कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि उनके भाव स्वतः स्पष्ट हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सम्बन्ध आजकल साधारणतः फ्रॉयड के साइको-एनैलिसिस के साथ जोड़ा जाता है। आज के मनोविज्ञान-विशेषज्ञ तथा साहित्यालोचक उसे और किसी दूसरे व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहते। इसके कारण हैं जो आगे चलकर स्पष्ट हो जाएँगे।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर ऐसे आश्चर्यजनक आविष्कार होते चले गए कि वैज्ञानिकों को मूल भौतिक तत्त्वों और भौतिक शक्तियों के अतिरिक्त सारे सृष्टि-चक्र में और कहीं कोई रहस्यात्मकता नहीं दिखाई दी। मन के रहस्यमय लोक के मूल में भी उन्हें मस्तिष्क के सूक्ष्म भौतिक कोष ही नज़र आने लगे। स्थूल भौतिकता के परे मन और आत्मा की अदृश्य अणु शक्तियाँ निरन्तर काम करती जाती हैं और वे रहस्यमूलक शक्तियाँ ही सारे जगत् को परिचालित करती हैं, इस बात पर नई वैज्ञानिक सभ्यता की छत्रछाया में पले लोग विश्वास ही नहीं करना चाहते थे।

इस प्रकार जब सारे बौद्धिक जगत् का दृष्टिकोण भौतिकवाद के रंग में एकदम रंगा जा रहा था तब प्रकृति के किसी रहस्यमय नियम के क्रम से कुछ विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियों में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उनकी अन्तर्दृष्टि ने सत्य के दूसरे चरम रूप की खोज बड़ी

गहरी छानबीन के साथ आरम्भ कर दी। मनुष्य के अन्तर्जगत के इन खोजियों में सिगमण्ड फ्रॉयड नाम के एक आस्ट्रियन यहूदी ने विशेष रूप से बौद्धिक जगत् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। वह दीर्घ प्रयोगों और परीक्षणों के बाद इस परिणाम पर पहुँचा कि मानवीय जीवन और व्यक्तित्व के निर्माण के मूल में भौतिक तत्व नहीं, बल्कि मन के भीतर अन्धकार में दबी पड़ी कुछ निराली ही शक्तियाँ काम करती हैं। उसने इस तथ्य का भी उद्घाटन किया कि मनुष्य का जाग्रत या सचेत मन स्वतन्त्र नहीं है, उसे संचालित करने वाला मूल यन्त्र है अवचेतन मन।

अपने इस आविष्कार की यथार्थता को प्रमाणित करने की ओर वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा। तब तक पाश्चात्य बौद्धिक समाज अवचेतन मन को जाग्रत या सचेत मन की छायामात्र समझता था। उसे पता नहीं था कि अवचेतन मन की शक्ति कितनी प्रचण्ड और विस्फोटात्मक है, और वह सचेत मन को किस तरह यन्त्र-चालित पुतले की तरह नचाती फिरती है।

फ्रॉयड ने यद्यपि अवचेतन मन की सीमा को अत्यन्त संकुचित रूप में देखा था, तथापि उस समय अवचेतन मन का वह सीमित रूप भी एक नया आविष्कार था और सीमित रूप की शक्ति का जो परिचय उसने दिया वह भौतिकता में डूबे हुये सभ्य समाज के लिये इस कदर भयानक सिद्ध हुआ कि चारों ओर से आतंक-जनित पुकारें सुनाई देने लगीं। बड़े-बड़े समझदार लोग भी उस भयावह सत्य का गला उसके आविष्कार की प्रारम्भिक अवस्था में ही घोंट देने के लिये कमर कसकर खड़े हो गये। पर उसके विरोध अथवा प्रतिरोध के जितने ही प्रयत्न होते थे उतनी ही अधिक तीव्रता से वह जन-मन पर अपना प्रभाव छोड़ता चला जाता था।

फ्रॉयड के सिद्धान्तों का जो विकट विरोध प्रारम्भ में सभ्य जगत् ने किया उसका प्रधान कारण यह था कि उसने अवचेतन मन की सारी

शक्तियों का मूल आधार व्यक्ति की दलित यौन प्रवृत्ति को माना था। उसका कहना था कि सभ्य समाज ने अपने अस्तित्व को बनाये रखने के उद्देश्य से व्यक्ति को जिन नैतिक बन्धनों द्वारा जकड़ रक्खा है उनमें 'सेक्स' सम्बन्धी बन्धन सबसे प्रबल हैं। फलस्वरूप स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की सहज भावना को भी व्यक्ति भरसक अपने मन के भीतर से भी भीतर के अन्धकार में दबाता चला जाता है। उन दमित असामाजिक भावनाओं का पुंजीभूत रूप ही व्यक्ति की अवचेतना है। वे समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ अवचेतना में दब भले ही जाती हों, पर नष्ट नहीं होतीं। वे व्यक्ति के अज्ञात में लुकी-छिपी रहती हैं, और तनिक-सा छिड़ पाते ही वेश बदलकर विभिन्न प्रतीकों के रूप में अपने को बाहर व्यक्त करती रहती हैं। विशेषकर व्यक्ति की स्वप्नावस्था में, जब सचेत मन का कड़ा प्रहरी थककर सो जाता है, तब वे दबी हुई प्रवृत्तियाँ चेतना के ऊपरी स्तर पर विचित्र वेषों में मुक्त रूप से विचरण करती रहती हैं।

इसी तथ्य को सामने रखकर फ्रॉयड ने एक निराले ही स्वप्न-विज्ञान का निर्माण कर डाला। उसने विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रकट रूप में अर्थहीन लगने वाले स्वप्न भी विशिष्ट अर्थ रखते हैं, और अधिकांश स्वप्न दामित यौन-भावना के ही साकार प्रतीक होते हैं।

सभ्य जगत् को फ्रॉयड का जो सिद्धान्त सबसे अधिक भयावह लगा वह यह था कि पैदा होते ही बच्चे की सारी मानसिकता अज्ञात में ही यौन-प्रवृत्ति द्वारा परिचालित होने लगती है। उसने इस सिद्धान्त को एक स्वयंसिद्धि मान लिया था। आज अनुभवी जानकारों के आगे यह बात स्पष्ट हो गई है कि यौन-प्रवृत्ति की चेतना को इस सीमा तक घसीट ले जाना युक्तिसंगत नहीं है। पर फ्रॉयड ने विरोधों के बावजूद अपनी बात के समर्थन मे ऐसे-ऐसे चतुर विश्लेषणात्मक तर्क उपस्थित किये कि धीरे-धीरे उसके समर्थकों की संख्या बढ़ती चली गई और एक

दिन वह आया जब सारे संसार के अधिकांश बुद्धिवादी, विज्ञानवेत्ता, साहित्यकार और कलाकार, जाने या अनजाने में, फ्रॉयड के समस्त सिद्धांतों को स्वयंसिद्धियाँ मानकर उनकी नींव पर नई-नई इमारतें खड़ी करने का प्रयत्न करने लगे। सर्वत्र फ्रॉयड एक नए मसीहा की तरह पूजा जाने लगा।

पर सभी बुद्धिवादियों ने अन्ध भाव से फ्रॉयड के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। स्वयं फ्रॉयड के ही दो प्रतिभाशाली शिष्यों ने उसके कुछ 'सेक्स' सम्बन्धी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का तीव्र विरोध करने के लिए अपने को विवश महसूस किया। वे सिद्धान्त ऐसे थे जिनके खंडित हो जाने से फ्रॉयडवाद की भारी इमारत ही हहराकर गिर पड़ती। इसलिए फ्रायड से उन शिष्यों का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। उनके विदा होते समय फ्रायड ने उन लोगों से इस बात के लिए आग्रह किया था कि वे अपने द्वारा प्रचलित होने वाले मनोविज्ञान का चाहे और जो भी नाम रक्खें, पर मनोविश्लेषण या साइको-एनेलिसिस न रक्खें—उस नाम को उसी के लिए सुरक्षित छोड़ दें। शिष्यों ने यह बात मान ली। उनमें से एक ने अपने द्वारा प्रचलित मनोविश्लेषण-सम्बन्धी विज्ञान का नाम रक्खा 'इण्डिविजुअल साइकॉलोजी' या वैयक्तिक मनोविज्ञान, और दूसरे ने 'अनालिटिकल साइकॉलोजी' या वैश्लेषिक मनोविज्ञान। पहले शिष्य का नाम था एडलर और दूसरे का नाम था युंग।

एडलर ने अपने मनोविज्ञान में 'सेक्स' को तनिक भी महत्व नहीं दिया है। उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति की विशिष्ट पारिवारिक अथवा सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी विशिष्ट मानसिकता का निर्माण करती हैं। उन विशेष परिस्थितियों के कारण ही व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में हीनता अथवा तथाकथित उच्चता की भावना घर कर जाती है, और उस भावना की प्रतिक्रिया ही व्यक्ति के मनोविज्ञान का रूप बन जाती है। जिस 'इनफ़ीरियोरिटी कम्प्लेक्स'

या हीनता की भावना की बात आजकल बहुत सुनने में आती है, उसकी ओर पहले-पहल एलडर ने ही ध्यान आकर्षित किया था। यह नाम-करण भी उसी का किया हुआ है। उसका कहना है कि जो व्यक्ति किसी कारण विशेष से परिवार में या समाज में अपने को हीन परिस्थिति में पाता है उसकी सारी मानसिक शक्तियाँ उस विशेष प्रकार की हीनता की क्षति-पूर्ति के उद्देश्य से केन्द्रित हो जाती हैं। और वह केवल उस हीनता के परिमाण के अनुसार ही उसके द्वारा हुई क्षति की पूर्ति करके सन्तुष्ट नहीं रहता, बल्कि अतिरिक्त पूर्ति करना चाहता है। उदाहरण के लिए, जो व्यक्ति बचपन में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण अपने को दबा हुआ पाता है और निरीह बनने के लिए विवश रहता है, वह बाद में केवल जीवन की उतनी-सी सुविधा जुटाकर ही सन्तोष धारण नहीं कर लेता जितने से वह दबा हुआ न रहे और निपट निरीह न बना रहे; केवल अपनी निरीह अवस्था का निराकरण ही उसे अभीष्ट नहीं रहता, बल्कि वह अपनी उस निरीहता के लिए परिवार या समाज को दोषी ठहराकर उलटे उस पर रोब गाँठने, उसे अपना अनुगत बनाने या निपीड़ित कर सकने की स्थिति प्राप्त करने की ओर निरन्तर सचेष्ट रहता है। ऐसे व्यक्तियों में से कइयों को अपनी इस विचित्र आकांक्षा की चरितार्थता के लिए सुयोग मिल जाता है, या वे स्वयं अपनी विशेष मनोवैज्ञानिक धुन के कारण उस सुयोग को प्राप्त कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में हिटलर का उदाहरण स्पष्ट है। हिटलर अपने बचपन में दयनीय पारिवारिक परिस्थितियों के कारण समाज में जिस प्रकार का निरीह जीवन बिताने को बाध्य हुआ था, उसे वह कभी भूल नहीं पाया। वह अपनी उस हीन-भावना-जनित क्षति की पूर्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं रहा, बल्कि अतिरिक्त क्षतिपूर्ति की आकांक्षा को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए उसने केवल समाज के साथ ही नहीं सारे संसार के साथ ऐसा प्रचण्ड प्रतिशोध लिया जिसके परिणामों से आज भी मानवता

उभर नहीं पाई है। हीनता की भावना व्यक्ति में इस हद तक अणु विस्फोटात्मक शक्ति भर सकती है !

पर हीनता-जनित क्षति की अतिरिक्त पूर्ति केवल प्रतिहिंसात्मक या विध्वंसमूलक रूपों में ही होती हो, ऐसी बात नही है। उपयोगी और निर्माणात्मक रूपों में भी उसका प्रस्फुटन देखा जाता है। कई आविष्कारक डॉक्टरों के जीवन के इतिहास से यह बात प्रमाणित होती है कि बचपन में अत्यन्त रुग्ण परिस्थिति और अस्वस्थ परिवेश में जीवन बिताने को बाध्य होने के कारण ही बाद में उन लोगों का रुझान डॉक्टरी की ओर हुआ। अपनी हीनता की भावना का प्रतिकार उन्होंने रुग्ण और अस्वस्थ व्यक्तियों के प्रति घृणा प्रदर्शित करके नहीं किया, वल्कि संसार में रोगों के उपशमन या निराकरण की ओर अपने अथक प्रयत्नों में सफलता प्राप्त करके किया। अतएव हीनता की भावना वरदान भी सिद्ध हो सकती है।

एडलर के मत से हीनता की भावना सभी बच्चों में न्यूनाधिक मात्रा में मूलगत रूप में वर्तमान रहती है। प्रत्येक बच्चा उस हीनता की भावना के दूरीकरण के लिए शक्ति प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। शक्ति-प्राप्ति की दिशा बच्चों की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार पृथक्-पृथक् होती है, पर शक्ति-प्राप्ति की भावना सब में निहित रहती है। कोई उस शक्ति का विकास विकृत और असामाजिक रूप में करता है और कोई स्वस्थ और समाजोपयोगी रूप में। हीनता का बोध, हीनता-जनित क्षति की पूर्ति की आकाँक्षा, और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए शक्ति-प्राप्ति की भावना— ये तीन बातें एडलर के मनोविज्ञान के मूल आधार हैं।

एडलर का मनोविज्ञान फ़ायड का 'साइको-अनैलिसिस' न होते हुए भी मनोविश्लेषण की ही कोटि में आता है, क्योंकि उसका भी सम्बन्ध जाग्रत चेतना-सम्बन्धी मनोविज्ञान से नहीं बल्कि अवचेतना-सम्बन्धी मनोविज्ञान से है।

युंग का मनोविज्ञान फ़ायड और एडलर दोनों से भिन्न है और दोनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ, अधिक व्यापक और अधिक गहरा है। फ़ायड ने अवचेतना का आविष्कार तो किया पर उसे अत्यन्त संकुचित दायरे के भीतर बाँध दिया। उसके मतानुसार व्यक्ति की अवचेतना का निर्माण उसके पैदा होने के बाद उसकी यौन-प्रवृत्ति के प्रतिक्रियात्मक ह्रास या विकास के अनुसार होता है। व्यक्ति के जीवन की दमित प्रवृत्तियों का संचय ही उसकी अवचेतना है। पर युंग की अवचेतना का दायरा बहुत बड़ा है। समग्र मानव जाति के आदि काल से लेकर आज तक युग-युग मे जिन सामूहिक प्रवृत्तियों का दमन, सभ्यता की ओर मनुष्य की क्रमिक गति के साथ होता चला आया है, वे सब निराकृत न होकर उसके अन्तर्मन में युगों से संचित हैं। इसलिए अवचेतना केवल व्यक्ति के जन्मकाल की चीज़ नहीं है; वह युग-युग की मानवीय भावनाओं की थाती है। वैसे युंग वैयक्तिक अवचेतना का अस्तित्व भी किसी हद तक स्वीकार करता है, पर उसे कोई विशेष महत्व नहीं देता। इस व्यापक अवचेतना को युंग ने सामूहिक अवचेतना कहा है। इस सामूहिक अवचेतना के आधार पर उसने एक ऐसी इमारत खड़ी कर दी है जिसकी ऊँचाई या गहराई तक उससे पहले कोई पाश्चात्य चिन्तक नहीं पहुँच पाया था। इस ऊँची उड़ान और गहरी डुबकी के लिए उसने प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान तथा दर्शन का सहारा लिया है। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि अवचेतना की अन्ध शक्तियों के सन्तुलन के लिए आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने की आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की तीन पद्धतियाँ एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं, परन्तु उन तीनों का लक्ष्य एक ही है—अवचेतना की अन्ध शक्तियों में सन्तुलन पैदा करना। इस सम्बन्ध में एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आविष्कार

शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों की चिकित्सा के उद्देश्य से हुआ था। फ्रायड उन्नीसवीं शती के प्रसिद्ध फ्रांसीसी डॉक्टर शार्को का शिष्य था। शार्को ने हिप्नोटिज्म के प्रयोग द्वारा रोगियों का इलाज करके एक नई चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया था। फ्रायड हिप्नोटिज्म की कला में पारंगत नहीं था। अपनी इस कमी की पूर्ति के लिए वह किसी नए प्रयोग की खोज में था। परिणामस्वरूप उसने मनोवैश्लेषिक चिकित्सा-विधि की खोज कर डाली।

पर इस नई चिकित्सा-पद्धति ने भौतिक शक्तियों के उपासक सचेत मन की क्रियाओं को ही प्रमुख महत्व देने वाले और अन्तर्जगत् की रहस्यमयी चिन्तना-धारा तथा भावात्मक शक्तियों की नितान्त उपेक्षा, बल्कि उपहास करने वाले घोर जड़वादी वैज्ञानिक युग का ध्यान एक नए और अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य की ओर आकर्षित कर दिया। अपनी निपट अनास्था की मनोवृत्ति के बावजूद आज का मानव मन की भीतरी शक्तियों की अवज्ञा करने का साहस नहीं कर पाता।

पर अभी पाश्चात्य मनोवैश्लेषिक विज्ञान अपनी शैशवावस्था में है। हमारे यहाँ के प्राचीन योगशास्त्री मनोवैज्ञानिक सत्य की जिस अतल गहराई तक पहुँच गए थे और जिस ऊँचाई तक उसे उठाने में समर्थ हुए थे, उसका क्षीणतम आभास भी अभी तक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नहीं दे सका। हमारे प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने मानवीय मनोवृत्तियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करके एक ओर युग-युग से विकास-प्राप्त अवचेतना-सागर का पूर्ण मंथन किया और दूसरी ओर अवचेतना की अन्ध शक्तियों के सन्तुलन अथवा निराकरण के लिए अतिचेतना के आकाश का भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया। और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समस्त द्वन्द्वात्मक स्थितियों से उभरकर मन की सारी प्रवृत्तियों और क्रियाओं को योगस्थ करके समदर्शन प्राप्त करने से मनुष्य समस्त बाहरी और भीतरी विषमताओं से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

अर्थात्—संसक्ति त्यागकर, सिद्धि तथा असिद्धि में समबुद्धि होकर सभी कर्मों को योगस्थ करो, क्योंकि समत्व का भाव ही वास्तविक योग है ।

और इसी योग में वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव का कल्याण है ।

भिन्नरुचिर्हि लोकः

रुचि की विभिन्नता भोजन से लेकर साहित्य-रसास्वादन तक सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। इस रुचि के पीछे कोई वस्तुगत कारण नहीं होता, बल्कि मनोवैज्ञानिक कारण होता है। पर यह मनोवैज्ञानिक कारण ऐसा प्रबल होता है कि दूसरों की किसी भी शिक्षा, निर्देशन या सुझाव का कोई प्रभाव उस पर सहज में नहीं पड़ता। जो व्यक्ति वाल्मीकीय रामायण की शैली का प्रेमी है और कालिदास के 'रघुवंश' की शैली को नापसंद करता है उसे आप 'रघुवंश' का प्रेमी पाठक नहीं बना सकते, फिर चाहे आप कैसे ही विद्वत्ता-पूर्ण तर्क क्यों न उपस्थित करें। यदि वह व्यक्ति विद्वान होगा तो संभवतः वह कालिदास के काव्य के विरुद्ध ऐसे-ऐसे साहित्यशास्त्रीय तर्क उपस्थित करेगा कि रघुवंश का प्रेमी मुँह बाये ताकता रह जायगा। पर मुँह से कुछ उत्तर न देने पर भी रघुवंश-प्रेमी अन्तर्मन से प्रशंसा करेगा कालिदास के ही काव्य की, क्योंकि उसकी वह रुचि किसी के सिखाने से नहीं बनी है, बल्कि उसका विकास उसकी अपनी निजी प्रवृत्तियों के विकास के अनुसार हुआ है।

यदि केवल मूर्खों में ही रुचिभेद पाया जाता तो यह प्रश्न कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण न होता। पर दो दिग्गज विद्वानों के बीच भी किसी विशेष साहित्यिक कृति के गुणों या अवगुणों के संबंध में मूलगत मतभेद पाया जा सकता है। प्रतिदिन के जीवन में इस तथ्य के ज्वलन्त और अनुभव-

सिद्ध प्रमाण मिलते रहते हैं। हर युग में, हर देश में, हर समाज में ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो अपनी व्यक्तिगत रुचि द्वारा किसी साहित्यिक रचना का विवेचन अथवा मूल्यांकन करना चाहते हैं, अपने विवेक द्वारा नहीं। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा करके वे गलती करते हैं। वास्तविकता यह है कि किसी की रुचि के संबंध में यह कहा ही नहीं जा सकता (कुछ विशेष अपवादजनक दृष्टान्तों को छोड़कर) कि वह सही है या गलत—क्योंकि कहने वाला स्वयं अपनी एक विशेष रुचि और संस्कार के अनुसार निर्णय करता है। कोई भी साहित्य-सर्जक, साहित्यालोचक या पाठक यह दावा नहीं कर सकता कि एकमात्र उसी की रुचि साहित्यिक-मूल्यांकन की अन्तिम कसौटी है।

इस साधारण से तथ्य पर ध्यान न देने का फल यह देखने में आता है कि विभिन्न रुचियों के साहित्य-प्रेमी या साहित्यालोचक एक-दूसरे के प्रति खड्गहस्त हो उठते हैं और किसी एक विशेष रचना के संबंध में मतभेद होने के कारण एक-दूसरे के जीवनव्यापी शत्रु बन बैठते हैं। रुचि-वैभिन्य के कारण पारखियों के बीच मारपीट और हत्याकांड तक होते देखे गये हैं। एक बार विख्यात साहित्यालोचक हैज़लिट और एक दूसरे साहित्यकार के बीच दो सुप्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियों की विशेषताओं के संबंध में बहस होने पर मारपीट हो गयी और दोनों एक-दूसरे का गला घोंटकर मार डालने पर उतारू हो गये। विख्यात इटालियन कवि एरियोस्तो और तासो में कौन श्रेष्ठ है; इस बात को लेकर एक बार दो साहित्य-प्रेमियों के बीच द्वन्द्व युद्ध हो गया, जिसके फलस्वरूप एक बुरी तरह घायल हो गया। घायल होने पर उसने यह स्वीकार किया कि उसने जिस कवि का पक्ष लिया था उसकी प्रमुख कृतियों को उसने कभी पढ़ा तक नहीं, केवल उसकी दो-चार छिटपुट पंक्तियाँ पढ़ी थीं जो उसे बहुत पसन्द आयी थीं!

केवल दो-चार पंक्तियाँ प्रिय लगने के कारण वह उस कवि की महानता सिद्ध करने के लिये अपनी जान तक दे डालने को तैयार हो

गया। तब जो लोग अपनी रुचि के किसी कवि या साहित्यकार की पूरी रचनाएँ पढ़ चुके हों वे उसकी श्रेष्ठता के विरुद्ध कोई बात कैसे सुनने को राजी हो सकते है।

और यह रुचिभेद युगों से चला आ रहा है। केवल साधारण लेखकों, कवियों और साहित्यालोचकों की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। महान् से महान्, युगों से विख्यात और सुप्रतिष्ठित कवियों या कलाकारों की कृतियों के संबंध में बड़े से-बड़े विद्वान आलोचकों के बीच इस हद तक मतभेद पाया गया है कि वह खाई कभी भी पट सकेगी यह बात संदेहास्पद मालूम होने लगती है। शेक्सपीयर की रचनाओं में कलात्मक त्रुटियाँ दिखाने वाले लोग केवल उसी के युग में वर्तमान नहीं थे। अठारहवी, उन्नीसवीं और बीसवीं शती में भी कई बड़े-बड़े आलोचकों ने उसकी शैली को अपरिष्कृत और अनगढ़ बताया है। इसके विपरीत बहुत से दूसरे आलोचक (जो विरोधी आलोचकों की अपेक्षा कुछ कम विद्वान और जानकार नहीं हैं) शेक्सपीयर को मानवीय सत्ता से बहुत ऊपर उठाकर उस पर देवत्व का आरोप करते रहे हैं।

कालिदास के युग में सौमिल्लक, कविपुत्र, घटखर्पर, दिङ्नाग आदि ऐसे कवि, साहित्यकार और साहित्यालोचक वर्तमान थे जो कालिदास की रचनाओं की बड़ी कड़ी आलोचना किया करते थे, ऐसा कहा जाता है। घटखर्पर को लोग परम्परा मे विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक, और कालिदास का समकालीन मानते हैं। समकालीन न सही, कालिदास के कुछ समय बाद ही सही, उसने कालिदास को कभी बड़ा कवि नहीं माना। कालिदासीय विचारधारा और शैली का वह कट्टर विरोधी था। 'कुमार-संभव' में कालिदास की इन प्रसिद्ध पंक्तियों की तीव्र आलोचना उसने की थी :

एको हि दोषो गुणसन्निपाते।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः॥

(बहुत से गुणों का सन्निपात होने से उसमें एक दोष ठीक उसी

तरह विलीन हो जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा की असंख्य किरणों का प्रकाश उसके कलंक को छिपा देता है।)

घटखर्पर ने इन लोक-प्रिय पंक्तियों की आलोचना करते हुए लिखा था :

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोरीति यो बभाषे
नूनं न दृष्टं कविनाऽपि तेन
दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥

अर्थात् 'जिस कवि ने यह कहा है कि गुणों के सन्निपात में एक दोष चंद्रमा की किरणों के बीच कलंक की तरह छिप जाता है, उसने निश्चय ही इस बात पर ध्यान नहीं दिया—इस बात का अनुभव ही उसे कभी नहीं हुआ—कि एकमात्र दारिद्र्य-दोष ढेरों गुणों को एकदम नष्ट कर देता है।'

कालिदास ने ढेरों गुणों के बीच एक दोष के छिप जाने की बात कही थी और घटखर्पर ने ठीक उसके विपरीत बात कही—अर्थात् केवल एक बड़े दोष के भीतर गुणों के ढेर छिप सकते है। यदि सहनशीलता के साथ तटस्थ दृष्टि से देखा और सोचा जाये तो दोनों की बातों में सचाई मिलेगी—केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। पर यदि घटखर्पर से किसी ने पूछा होगा तो उसने अपने दृष्टिकोण को निश्चय ही अकाट्य और अंतिम सत्य बताया होगा और बहुत सम्भव है कि अपनी बातचीत में वह कालिदास को मूर्ख, अहम्मन्य और तिकड़मबाजी द्वारा आगे बढ़ा हुआ कवि मानता होगा। मैं उसकी ईमानदारी में सन्देह नहीं करता, और न यह कहकर उसकी बात टाली जा सकती है कि वह या तो मूर्ख था या ईर्ष्यालु। उसे मैं मूर्ख इसलिए मानने को तैयार नहीं हूँ कि उसने जो दृष्टांत उपस्थित किया है वह जीवन की यथार्थता की दृष्टि से पूर्णतः युक्ति-संगत है। ईर्यालु वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, पर जब वह अपनी बात के पक्ष में एक वजनदार तर्क दे रहा है तब हमें

उस तर्क के आधार पर ही उसकी मनोवृत्ति का परीक्षण करना चाहिये, न कि अनुमान से।

घटखर्पर के तर्क से यह मनोवैज्ञानिक अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि दरिद्रता की पीड़ा कैसी निर्मम और सर्वशोषी है, इसका अनुभव उसने स्वयं अपने जीवन-संघर्ष के दौरान में किया होगा। फलतः जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में उसका एक निश्चित और विशेष मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण बन गया होगा, और स्वभावतः साहित्यिक मूल्यांकन भी वह उसी यथार्थवादी दृष्टिकोण से किये जाने के पक्ष में हो गया। उसने ईमानदारी से यह सोचा होगा कि चूंकि कालिदास को दरिद्रता से लड़ने के लिए कोई संघर्ष कभी नहीं करना पड़ा इसलिए सत्य के यथार्थवादी पहलू की ओर वह ध्यान न दे सका। इस तरह हम देखते हैं कि कालिदासीय मनोधारा उसकी रुचि के एकदम विपरीत पड़ती थी।

रुचि से मेल न बैठने पर कवि आलोचक को अपना शत्रु मानने लगता है और एक आलोचक दूसरे आलोचक को। यदि कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथ की परम्परा से सुनी बात को हम प्रमाण मानें तो अपने विरोधी आलोचक दिङ्नाग की बातों से वह निश्चय ही चिढ़ता और उसे अपना परम शत्रु मानता होगा। इसीलिए उसने 'मेघदूत' रचना के समय अन्योक्ति के रूप में दिङ्नाग को इस पंक्ति द्वारा परास्त कर देना चाहा है :

दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्।

'दिङ्नागों के मोटे हस्तों (सूँडों) की फटकार को बचाकर तुम आगे बढ़ना।'

दिङ्नाग को कालिदास निश्चय ही एक ऐसा मूर्ख समझता होगा, जो कलात्मक तत्वों की बारीकियों को समझने में असमर्थ है। और दिङ्नाग भी बदले में कालिदास को मूर्ख नहीं तो धूर्त अवश्य ही समझता होगा, जो केवल कलाप्रेमियों को प्रसन्न रखने और लच्छेदार शब्दों और

उपमाओं द्वारा अपने आश्रयदाता राजा, सामंत या सामंतों की कृपा अपने ऊपर बनाये रखना चाहता हो, और काव्य के 'गहन तत्वों' की या तो जानबूझकर उपेक्षा करता हो या उन्हें समझता ही न हो ! दोनों की ईमानदारी में सन्देह करने का कोई कारण मैं नहीं देखता, केवल दोनों की मनोवैज्ञानिक धाराओं में अन्तर मानता हूँ ।

वररुचि ने निश्चय ही अपनी रचनाओं के किसी आलोचक के विपरीत दृष्टिकोण से झल्लाकर इस प्रसिद्ध श्लोक की रचना की होगी ।

इतर दुःखशतानि यदृच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन ।
अरसिकेषु रसस्य निवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

'हे चतुरानन, तू और जितने भी दुःखों को मेरे ऊपर लादना चाहे शौक से लाद; उन सबको मैं सह लूँगा । केवल यह दुःख तू मेरे कपाल में मत लिख, मत लिख, मत लिख कि किसी अरसिक के आगे मुझे रस-सम्बन्धी चर्चा करनी पड़े ।'

स्पष्ट है कि बड़ी ही मार्मिक पीड़ा की अनुभूति के बाद वररुचि की कलम से इस तरह की बात निकली होगी, तभी उसने 'मत लिख' पर तीन बार जोर दिया है । पर प्रश्न यह उठता है कि अरसिक किसे माना जाय ? 'रसिक' और 'अरसिक' ये सापेक्ष शब्द हैं । मैं जिस कविता या कहानी, नाटक या उपन्यास में रस पाता हूँ उसमें यदि आपको तनिक भी रस प्राप्त नहीं होता तो मेरे लिए आप अरसिक हैं, और आपकी प्रिय रचना में यदि मुझे अपनी रुचि के अनुकूल रस नहीं मिलता तो मैं आपके लिये अरसिक हूं । इसका निर्णय करने वाला कोई तीसरा व्यक्ति होना चाहिये कि आपकी रुचि अधिक रसग्राही है या मेरी; पर यह तीसरा व्यक्ति भी अपने विशेष मनोवैज्ञानिक विकास के कारण तीसरी ही रुचि न रखता हो इसका क्या निश्चय है ? सम्भव है वह हम दोनों के अपने-अपने पसंद की कृतियों को नीरस और कुरुचिपूर्ण मानता हो और किसी

तीसरी ही चीज को रसपूर्ण और कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझता हो। क्योंकि रुचि के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि 'नैको कविर्यस्य वचः प्रमाणम्।' एक भी कवि या आलोचक अभी तक ऐसा नहीं उपजा जिसका वचन रस और रुचि के सम्बन्ध में अन्तिम निश्चित सत्य के रूप में माना जा सके।

यह ठीक है कि वररुचि अपनी रुचि को निश्चय ही श्रेष्ठ और सुन्दर मानता होगा, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है; साथ ही इस बात की घोषणा भी वह समय-समय पर अपने युग के साहित्यिक वर्ग के आगे करता रहता होगा कि अमुक कृति महान् और रसपूर्ण है, उसे पढ़कर तुम्हें आनन्द प्राप्त होना चाहिये, और अमुक कृति निकृष्ट और नीरस है उससे तुम्हारे मन में घृणा पैदा होनी चाहिये। पर सभी साहित्य-प्रेमी उसके प्रवचनों के अनुरूप अपनी रसानुभूति और रुचि की दिशाएँ मोड़ते चलते होंगे, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता। बहुत से दूसरे विद्वान् रसिकों की रुचि में और वररुचि की रुचि में निश्चय ही मूलगत अंतर पड़ जाता होगा और तब दोनों एक-दूसरे को मूर्ख और अरसिक केवल समझते ही न होंगे बल्कि संभवतः मुँह से कहते भी होंगे।

रुचि के क्षेत्र में डिक्टेटरशिप चल नहीं सकता। कोई व्यक्ति चाहे कैसा ही विद्वान् और 'साहित्य-रस-मर्मज्ञ' क्यों न हो, वह अपनी रुचि को दूसरों के मन पर बलपूर्वक थोप नहीं सकता, क्योंकि रस-संबंधी रुचि विवेक द्वारा नहीं बल्कि अपने-अपने मनोवैज्ञानिक संस्कारों द्वारा बनती है। जब दो आलोचक पन्त और निराला की कविताओं की तुलनात्मक आलोचना करते हुए पाये जायँ और उनमें से एक पन्त की कविता को श्रेष्ठ बताता हो और दूसरा निराला की कविता को, तब आपको यह समझ लेना चाहिये कि दोनों के बीच का झगड़ा पन्त और निराला के काव्य साहित्य को लेकर उतना नहीं है जितना इस बात पर कि दोनों में से किसकी रुचि श्रेष्ठ है। क्योंकि पन्त बड़े कवि हैं या निराला, इसका निश्चित निर्धारण कर सकने के लिये आपके पास कोई गणित का

माप-दंड नहीं है; अपनी रुचि के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन आपके पास नहीं है जिसके द्वारा आप यह प्रमाणित कर सकें कि उक्त दो कवियों में से कोई एक महत्तर है।

पंडितराज जगन्नाथ ने ठीक ही कहा है कि :—

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनोवात यत्र संलग्नम्॥

दही भी मीठा होता है और मधु भी, द्राक्षा भी मीठी होती है और शक्कर भी; पर ये सब चीजें सबके लिये समान रूप से मीठी नहीं होतीं। जिसका मनोवात इनमें से जिस विशेष वस्तु से संलग्न हो—अर्थात् जिसकी रुचि जिसमें हो—उसके लिये वही (विशेष) मीठा होता है।

मनोवात को आधुनिक भाषा में हम मनोवैज्ञानिक संस्कार कह सकते हैं। चाहे पंडितराज जगन्नाथ हो चाहे कल्लू मोची, आप किसी को भी प्रमाण द्वारा यह नहीं समझा सकते कि दही नीरस चीज़ है और मधु से बढ़कर उसका स्वाद नहीं हो सकता। यदि पंडितराज दही के प्रेमी रहे होंगे तो कोई भी मधुप्रेमी अपनी रुचि के आरोपण द्वारा दही के प्रति उनके सहज झुकाव को कम न कर सका होगा।

जो बात दही और मधु के संबंध में कही जा सकती है वह विभिन्न कवियों और साहित्य-सर्जकों की कृतियों के संबंध में कही जा सकती है। पंत का प्रेमी आलोचक चाहे लाख विद्वत्तापूर्ण तर्क उनकी कविता के पक्ष में उपस्थित करे वह निराला की कविता के सच्चे प्रेमी के मन पर से यह विश्वास हटाने में सहज में सफल नहीं हो सकता कि निराला की उड़ान को कोई दूसरा कवि पा नहीं सकता। उसी प्रकार कोई भी निराला-भक्त पंत-काव्य के किसी प्रेमी को सहज में उसके विश्वास-पथ से नहीं डिगा सकता। ऐसे मामलों में विवेक कोई काम नहीं देता। व्यक्तिगत संस्कार अक्सर आलोचना के प्रमुख अंग बन जाते हैं।

आलोचकों की वैयक्तिक रुचि और रुचिभेद ने साहित्य के मानदंडों को बनाने, बदलने, बिगाड़ने, नयी-नयी उलझनें पैदा करने, साहित्यिक

गति को रोकने और आगे बढ़ाने में, साहित्यिक इतिहास का साथ दिया है। पर वैयक्तिक रुचि की खामखयालियाँ ही सब कुछ नहीं हैं। सामूहिक रुचि अथवा युग-रुचि का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। जब कालिदास ने एक नयी शैली और नया दृष्टिकोण लेकर नाटक के क्षेत्र में पहले-पहल प्रवेश किया तब उनके सामने जो सबसे पहली और सबसे बड़ी रुकावट थी वह थी युग-रुचि। विद्वान् लोग इस संबंध में एकमत हैं कि 'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की सर्वप्रथम नाटक रचना रही होगी। इस नाटक की प्रस्तावना में जब सूत्रधार से उसका पारिपार्श्वक यह प्रश्न करता है कि आज किसका नाटक खेला जायगा; तब उसे उत्तर मिलता है कि कालिदास नाम के एक नये कवि का। इस पर पारिपार्श्वक अत्यन्त खिन्न होकर पूछता है कि भास, सौमिल्लक, कविपुत्र आदि पहले ही से जमे हुए, प्रतिष्ठित और प्रतिभाशाली कवियों के नाटकों को छोड़कर इस नये कवि कालिदास का नाटक क्यों खेला जा रहा है? इस पर सूत्रधार उत्तर देता है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्,
संतः परीक्ष्यान्यतरं भजन्ते
मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

'जो कुछ पुराना है वह सब अच्छा ही हो, ऐसी कोई बात नहीं; और न नया होने से ही कोई काव्य दोषी माना जा सकता है। मर्मज्ञ लोग पूरी छानबीन के बाद किसी साहित्यिक कृति की (चाहे वह पुरानी हो या नयी) श्रेष्ठता या हीनता की परख करते हैं और मूढ़ लोग अपनी समझ से नहीं बल्कि दूसरों की बुद्धि के अनुसार चलकर गुण-अवगुण का विवेचन करते हैं।'

कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे और रवीन्द्रनाथ की तरह असाधारण प्रतिभाशाली कवि-आलोचक या आलोचक कवि बिरले ही होते हैं जो अकेले युग-रुचि की दकियानूसी परम्परा पर हथोड़े चलाकर उसे अपनी

रुचि के अनुसार मोड़ने में सफल सिद्ध होते हैं। उनकी इस सफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह होता है कि उनकी रुचि उदार और दृष्टि व्यापक होती है। उनकी वैयक्तिक रुचि के भीतर युग-युग से विकसित विभिन्न रुचियाँ सन्निहित रहती हैं, और वे परस्पर-विरोधी रुचियों की अलग-अलग विशेषता देख सकने, उनका पृथक्-पृथक् मूल्य आँक सकने और उनकी प्रकट विभिन्नता को एक सामंजस्य के सूत्र में पिरो सकने की समर्थता रखते हैं।

भवभूति ने भी अपने युग की रुचि के विरुद्ध विद्रोह करके उसे अपनी निजी रुचि के अनुकूल मोड़ने का प्रयत्न किया था। पर सम्भवतः उसे इच्छानुसार बदलने में वह अपने जीवन में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता रहा। फिर भी उसने हार नहीं मानी और युगोत्तर की आशा में बैठकर उसने अपने विद्रोह की घोषणा इन शब्दों में की :

ये नाम केनचिदिह प्रवदन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम च कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

'जो लोग मेरे अथवा मेरी रचना के सम्बन्ध में अवज्ञा से बातें करेंगे वे भले ही जानकार हों, पर उनके लिये मेरा यह प्रयत्न नहीं है। कभी कहीं मेरा कोई समानधर्मा कवि या आलोचक अवश्य उत्पन्न होगा, जो मेरी रचनाओं का, मेरी कला का और मेरे दृष्टिकोण का महत्व समझेगा। क्योंकि काल सीमाहीन है और पृथ्वी विशाल है।'

यहाँ पर भवभूति ने 'समानधर्मा' पर विशेष जोर दिया है, जिससे स्पष्ट है कि वह रुचि-वैभिन्य को किसी विशेष काव्य की परख के संबंध में पैदा होने वाली उलझनों का और विघ्नों का प्रधान कारण मानता था। वह इस तथ्य से भली-भाँति परिचित था कि केवल वही आलोचक उसकी नाट्य-कला में रस ले सकता है और उसकी विशेषताओं से

परिचित हो सकता है जिसकी रुचि और अन्तःप्रवृत्ति उसकी अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल पड़ती हो।

जिस काव्यप्रेमी या आलोचक ने यह दोहा रचा कि—

सूर-सूर तुलसी ससी उडुगण केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास॥

उसके सम्बन्ध में तुलसी के प्रेमियों की यह शिकायत स्वाभाविक है कि उसने सूर की कृष्णलीला को तुलसी की रामलीला से अधिक महत्व देकर तुलसी की महान् प्रतिभा के साथ न्याय नहीं किया है। पर जिसने सूर को सूरज के साथ बिठाया उसकी मनोधारा निश्चय ही कृष्ण-लीला की ओर अधिक झुकी हुई होगी और सूर की सहज रसमयी कविता उसे अपने प्रेम में ब्रजवासियों के समान ही बहा ले जाती होगी। तुलसीदास की भाव और विवेक-समन्वित शैली उसके अन्तर्प्राणों के तारों में झंकार भरने में असमर्थ रही होगी—अर्थात् वह उसके मनोवात के अनुकूल न पड़ती होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि युग-युग में वैयक्तिक रुचिभेद का प्रश्न सही साहित्यिक मूल्यांकन में विघ्न उपस्थित करता रहता है। केवल कालिदास जैसे विवेकशील और उदारमना रसज्ञ ही रुचि-वैचित्र्य के जाल में फँसने से बच जाते हैं, और विभिन्न रुचियों के कवियों की रचनाओं में रस-तत्व के विविध रूपों का आस्वादन बिना किसी विरोधी संस्कार के कर सकने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

कालिदास मानवीय रुचि के वैभिन्य से भली-भाँति परिचित थे, पर यह होने पर भी सौंदर्य-कला के किसी एक विशेष रूप को अन्य रूपों के ऊपर तरजीह उन्होंने कभी नहीं दी। वह सभी रूपों का उपभोग अलग-अलग ढंग से करना पसंद करते थे।

रुचि-वैचित्र्य के सम्बन्ध में कालिदास का दृष्टिकोण बिलकुल साफ था। उनका कहना था कि लोग अपनी वैयक्तिक मानसिकता के अनुसार किसी विशेष प्रकार के सौंदर्य तत्त्व या रस-तत्त्व को पसंद करते हैं, पर

योग्य परीक्षकों को सभी मानसिक संस्कारों के ऊपर उठकर उन सभी महत्वपूर्ण सौंदर्य या रस-तत्वों का समुचित मूल्यांकन तटस्थ दृष्टि से करना चाहिये। यही कारण था कि जहाँ एक ओर सीता और शकुंतला के प्रशांत, धीर, करुण और सुकुमार अंतर और बाह्य सौंदर्य का रस वह परिपूर्ण रूप से ग्रहण कर सके वहाँ ताड़का के समान विकराल नारी के प्रकट में अत्यन्त जघन्य और बीभत्स रूप में भी उनकी उदार विवेकशील और सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि एक निराले ही सौंदर्य का दर्शन कर सकी। विश्वामित्र के तपोवन में जब ताड़का आविर्भूत होती है तब उस दृश्य का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है :

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयो
प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताड़का चलकपालकुण्डला
कालिकेव निबिड़ा बलाकिनी॥

'राम के धनुष की डोरी की टंकार सुनते ही अमावस्या की रात के समान घोर कृष्णवर्ण ताड़का निरंतर हिलते हुए नर-कपालों के कुण्डल धारण किये हुये इस तरह आविर्भूत हुई जैसे वर्षाकाल की काली बदली बगुलों की पाँति से सुशोभित हो।'

बगुलों की पाँति से शोभित वर्षा की काली घटा से ताड़का के रूप की उपमा देकर कालिदास ने उपमा का औचित्य पूर्णतया कायम रखते हुए उस घिनौनी ताड़का में भी वह सौंदर्य तत्व देख लिया जो किसी भी विरोधी संस्कार वाले कवि के लिये असम्भव था।

राममन्मथशरेण ताड़िता
दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गंधवद्रुधिर चंदनोक्षिता
जीवितेष वसतिं जगाम सा॥

'राम ही मानो मन्मथ थे, जिनके दुःसह बाण से पीड़ित होकर वह निशाचरी (राक्षसी अथवा अभिसारिका) रुधिर रूपी लाल चंदन

से शोभित और गंधित होकर जीवितेष (यम या प्रियतम) के निवास की ओर चल पड़ी ।"

वैयक्तिक मानसिकता और युग-रुचि से ऊपर उठ सकने वाला कवि ही प्रकट में घृणित या बीभत्स लगने वाले दृश्यों या घटनाओं में भी निराला सौंदर्य-तत्व और अपूर्व रस-तत्व प्राप्त कर सकता है, कालिदास के ये दो श्लोक इस बात के प्रमाण हैं ।

अंत में रुचि-वैचित्र्य के सम्बंध में स्वयं कालिदास का ही एक श्लोक उद्धृत करके मैं यह प्रसंग समाप्त करूँगा । इंदुमती के स्वयम्वर में जब सुनंदा विभिन्न राजाओं के पास उसे ले जाकर एक-एक करके उनका परिचय देती हुई अंग देश के राजा के पास उसे ले गई और उनके गुणों की बहुत प्रशंसा कर चुकी, तब इंदुमती ने उससे कहा । "आगे बढ़ो ।" उसके इस अवज्ञामूलक संक्षिप्त संकेत पर कवि की टिप्पणी इस प्रकार है :

नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्
द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः।

"यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर या काम्य न हो, और न यही बात थी कि इंदुमती ने उसे ठीक से देखकर उसके व्यक्तित्व का सम्यक् निरूपण न किया हो । फिर भी जो वह राजा उसे न भाया, इसका कारण केवल यही था कि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है ।"

साहित्य में वैयक्तिक कुंठा

व्यक्तिगत कुंठा मनुष्य की आधुनिक सभ्यता की देन है। आज के सभ्य जीवन में जो ऊपरी दिखावा, जो बनावटीपन आ गया है, उसने जीवन के सहज, सरल और स्वस्थ प्रवाह को चारों ओर से रूंध दिया है। इस अवरोध का फल यह देखने में आता है कि मनुष्य को पग-पग पर अपने भीतर के वास्तविक रूप को छिपाना पड़ता है और समाज के बाहरी रूप के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करने के लिये नये-नये मुखड़े पहनने पड़ते हैं, जिनमें से एक भी उसका अपना नहीं होता। अपने को सामाजिक दबाव के कारण इस प्रकार निरन्तर छिपाते रहने, अपने भीतर की वास्तविक प्रवृत्तियों को बराबर दबाते रहने का फल यह होता है कि व्यक्ति के भीतर के द्वन्द्व बढ़ते चले जाते हैं।

इस प्रकार का कुंठित व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों की विषमता से लड़कर, उन पर विजय प्राप्त करके, व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की गति को आगे बढ़ाते चले जाने में सहायक होने के बजाय अपनी ही दमित प्रवृत्तियों से लड़ने में अपनी सारी शक्तियों को समाप्त कर देता है, और संघर्ष में उलझ कर स्वयं ही क्षत-विक्षत होता चला जाता है। यह एक ऐसा विकट अभिशाप है आज के युग का, जिसका बहुत बड़ा हाथ सामूहिक प्रगति को रोकने में है।

यही कारण है कि साहित्यकार व्यक्तिगत कुंठा के प्रश्न की अवज्ञा

कर ही नहीं पाता। जो साहित्यकार जितना ही महान और अनुभूतिशील होगा, सामूहिक प्रगति की आकांक्षा जिसके मन में जितनी ही गहरी और प्रबल होगी, वैयक्तिक कुंठा का प्रश्न उसके आगे उतने ही अधिक परिस्फुट रूप में उभरकर आयेगा, क्योंकि गहरी अन्तर्दृष्टि रखने वाले साहित्यकार से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि व्यक्ति के भीतर चलते रहने वाले द्वन्द्व सहज सामाजिक प्रगति में किस हद तक बाधक सिद्ध होते हैं।

इसलिये वह उन भीतरी द्वन्द्वों का विश्लेषण करता है, उनके मूल कारणों को खोज निकालने का प्रयत्न करता है और उन द्वन्द्वों के निराकरण के लिये उपयुक्त उपाय सुझाता हुआ सामूहिक सामाजिक प्रगति के लिये रास्ता साफ करता है। कालिदास के दुष्यंत के जमाने से लेकर शेक्सपियर के हैमलेट के युग तक और हैमलेट के युग से लेकर आज तक प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यकार इसी वैयक्तिक कुंठा के गंभीर और सभ्य जीवन के मूल में पैठे हुए प्रश्नों पर प्रकाश डालते चले आये हैं।

यह ठीक है कि सभी युगों के कलाकार देश, काल, परिस्थिति और पात्रों के अनुसार अपनी शैली को बदलते चले गये हैं, पर उद्देश्य सबका—जाने या अनजाने—एक ही रहा है। कालिदास का दुष्यंत तपोवन में जब शकुन्तला को देखता है, तब अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार उसके प्रति आकर्षित होते हुए वह यह महसूस करता है कि शकुन्तला के साथ उसका आत्मिक तथा सामाजिक संयोजन दोनों के जीवन की सहज प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। राजप्रासाद और तपोवन, वैभव और त्याग का वह मिलन प्रत्येक दृष्टि से—वैयक्तिक और सामाजिक दोनों रूपों से कल्याणकारी है। अपनी इस अन्तःप्रज्ञा से प्रेरित होकर वह उसके साथ गुप्त अर्थात् गंधर्व-विवाह का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है पर सामाजिक अनुशासन के भय से वह उस सम्बन्ध को स्थायित्व प्रदान करने से हिचकता है।

फलस्वरूप शकुन्तला अपमानित होकर उससे अलग हो जाती है।

इस प्रकार व्यक्तिगत प्रवृत्ति और सामाजिक अनुशासन के बीच संघर्ष होने से दुष्यंत कुंठा का शिकार बन जाता है। उसकी इस कुंठा का सुन्दर और सफल चित्रण कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। पर केवल उस कुंठा का नाटकीय चित्रण ही कालिदास का उद्देश्य नहीं रहा है। उसे संकीर्ण वैयक्तिक घेरे से ऊपर उठाकर कालिदास ने अपनी आश्चर्यमयी कला द्वारा उसे सामाजिक स्तर पर लाकर खड़ा किया है और यह दिखाया है कि किस प्रकार व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के सहज विकास को सामूहिक सामाजिक प्रगति के साथ एक रूप में नियोजित किया जा सकता है। हैमलेट में हम यह अन्तर पाते हैं कि उसमें शेक्सपीयर ने नायक की व्यक्तिगत कुंठा का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण करने में अपनी कलात्मक शक्ति का व्यय अधिक किया है और सामाजिक विकास के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करने की ओर कम ध्यान दिया है।

आधुनिक साहित्य में हम इस दृष्टि से कालिदासीय कला की अपेक्षा शेक्सिपीरियन कला का अधिक प्रभाव पाते हैं। ठीक है कि सभ्यता-जनित विकृतियों के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ व्यक्तिगत कुंठा भी उसी अनुपात में अधिकाधिक जटिल रूप धारण करती चली आयी है। इसलिये उस जटिलता को सुलझाने में ही आधुनिक नाटककारों और उपन्यासकारों की सारी शक्ति खर्च हो जाती है। फल यह देखने में आता है कि कुंठा का विश्लेषण और चित्रण साधन न रहकर साध्य बन जाता है और व्यापक सामाजिक समस्याएँ हल नहीं हो पातीं।

पर यह कहना गलत होगा कि शेक्सपियर के बाद परवर्ती युगों में सभी श्रेष्ठ कवियों, नाटककारों या उपन्यासकारों पर केवल उसी का प्रभाव पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि वैयक्तिक कुंठा के प्रश्न की अवज्ञा कोई न कर पाया, पर सभी ने यह नहीं माना कि इस प्रकार की कुंठित मनोवृत्ति का सफल चित्रण ही महान् कला का चरम निदर्शन है। उदाहरण के लिये हम गेटे के 'फाउस्ट' को ले सकते हैं। नायक की

वैयक्तिक कुंठा के विश्लेषण से इस काव्यात्मक नाटक का आरम्भ होता है।

चूंकि फाउस्ट की बौद्धिक और दार्शनिक प्रतिभा अत्यन्त विकसित और बहुमुखी है, इसलिये अपनी कुंठा की अनुभूति भी उसमें बहुत ही तीखी और प्रबल है। पर वह उस कुंठा से पराजित और उसमें गर्क होकर निश्चेष्ट नहीं हो जाता। वह अपनी भीतरी प्रवृत्तियों और बाहरी परिस्थितियों से निरन्तर जूझता रहता है और इस प्रकार समुचित वैयक्तिक विकास का सामूहिक सामाजिक प्रगति के साथ संतुलित संयोजन कर सकने में सफल सिद्ध होता है। 'फाउस्ट' के प्रथम भाग में गेटे ने नायक की व्यक्तिगत कुठा का वैश्लेषिक चित्रण बड़ी ही बारीकी से किया है और दूसरे भाग में उस कुंठा की परिणति जीवन के प्रति एक उदार और व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण में दिखायी है।

पर गेटे का यह आदर्शात्मक दृष्टिकोण उन्नीसवीं शती के यूरोपियन कलाकारों—विशेषकर उपन्यासकारों—के लिये प्रेरणा का स्रोत न बन सका। फ्रांसीसी राज्यक्रांति की मूल उद्देश्यगत असफलता के कारण फ्रांस के सामाजिक जीवन में एक विचित्र विशृंखल के फलस्वरूप सामूहिक भ्रष्टाचार फैल गया था। इस भ्रष्टाचार के युग में केवल वे ही लोग आगे बढ़ सकते थे जो नैतिक पतन के गढ़े में गले-गले तक डूब चुके हों। जिन लोगों के भीतर नैतिक भावना कुछ भी अवशिष्ट थी, वे अपने ही भीतर सिमट कर कुंठित मनोवृत्ति के शिकार बन गये थे। फल यह देखने में आया कि व्यक्तिगत कुंठा का निदर्शन और विश्लेषण उस युग के साहित्य का फैशन बन गया। 'व्यक्ति की कुंठा का विश्लेषण केवल विश्लेषण के लिये'—यह जैसे उस युग के साहित्यकारों का नारा बन गया।

रूसी उपन्यासकारों ने भी अपने उपन्यासों और कहानियों में व्यक्ति की कुंठा को अपने विश्लेषण का विषय बनाया। पर केवल तुर्गनेव को छोड़ कर शेष सभी ने वैयक्तिक कुंठा को आदर्शात्मक सामाजिक प्रेरणा

की ओर विकसित होने का अवसर दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने गेटे का अनुसरण किया, जबकि तुर्गनेव ने हेमलेट को अपना आदर्श माना।

बीसवीं शती में भौतिक वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्रों में अधिकाधिक विकृति आती चली गयी। फल यह हुआ कि व्यक्ति के भीतर और बाहर, आदर्श और यथार्थ के बीच द्वन्द्व और संघर्ष की तीव्रता बढ़ गयी। सारा साहित्य व्यक्ति की कुंठित मनोवृत्ति की गांठें खोलने और सुलझाने के प्रयत्न में समाप्त हो गया। ऐसी परिस्थिति में फ्रायड का आविर्भाव हुआ। उसने साहित्य कलाकारों को विश्लेषण के लिये एक नया अस्त्र प्रदान कर दिया। फ्रायडियन विश्लेषण द्वारा जब फ्रायड के समकालीन लेखकगण व्यक्ति की मनोभावनाओं की चीरफाड़ करने लगे, तब उस विश्लेषण का कोई अन्त ही उन्हें नहीं मिला, क्योंकि बीसवीं शती के व्यक्ति की कुंठा के मूल में कई कारण उन्हें निहित दिखायी दिये। वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक—सभी क्षेत्रों की विकृतियों का सम्मिलित प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर बुरी तरह पड़ रहा था।

पर केवल विश्लेषण उन जटिल जीवन-ग्रन्थियों को सुलझा सकने में समर्थ नहीं था। उन्हें किन्हीं नयी और स्वस्थ दिशाओं की ओर मोड़ने और उन्नयन करने के लिये एक बहुत बड़े आदर्शात्मक लक्ष्य की आवश्यकता थी जिसका उन लेखकों में निपट अभाव पाया गया जो फ्रायड द्वारा प्रभावित थे। उन्होंने व्यक्ति की कुंठा के सामाजिक कारणों की छानबीन न कर केवल मनोवैज्ञानिक कारणों की ही खोज आरम्भ कर दी और 'विश्लेषण केवल विश्लेषण के लिये' के सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

फ्रॉयड के बाद आया सार्त्र। उसने व्यक्ति की कुंठा को समाज का कोढ़ न मानकर उसे जीवन का एक स्वाभाविक तत्त्व माना। व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त को विकृति की पराकाष्ठा तक ले जाकर उसने यह प्रतिपादन किया कि कुंठा का तत्व जीवन के

मूल में निहित है। किन्हीं बाहरी कारणों से उसकी उत्पत्ति नहीं होती—न सभ्यताजनित विकृति ही उसका कारण है, न सामाजिक विषमता और न पारिवारिक अव्यवस्था।

कहना न होगा कि सात्रे का यह अद्‌भुत दृष्टिकोण किसी भी समझदार और जीवन की गहराई में प्रविष्ट कलाकार को मान्य नहीं हो सकता। व्यक्ति के जीवन में हम कुंठा का जो रूप पाते हैं, वह जीवन के भीतर से सहज रूप में विकसित कोई तत्व नहीं है बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से उत्पन्न परिस्थितियों द्वारा ऊपर से थोपी गई चीज़ है। यह ठीक है कि कुंठा की भावना व्यक्ति की मानसिकता में बड़ी खलबली मचा देती है और जीवन के सम्बन्ध में उसके परिप्रेक्षण को ही विकृत बना देती है। पर यह होने पर भी उसके मूल कारणों की खोज के लिये केवल व्यक्ति के मन के भीतर पैठने से ही काम न चलेगा, बाहर की परिस्थितियों की भी छानबीन उसके लिये करनी पड़ेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि पिछले कुछ युगों से बाहरी परिस्थितियों का दबाव सामूहिक तथा वैयक्तिक मानव-मन पर इस हद तक पड़ा है कि कुंठा की भावना ने एक प्रकार से वंशानुक्रमिक रूप धारण कर लिया है। पर वह वशानुक्रमिता भी किन्हीं भीतरी कारणों से विकसित नहीं है, बल्कि बाहरी परिस्थितियों के उत्तरोत्तर विकृतीकरण की सामूहिक क्रिया का ही परिणाम है।

इस तथ्य की सचाई के महत्व को न समझकर आज भी कुछ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त पाश्चात्य कलाकार अपने नाटकों, उपन्यासों और कविताओं में वैयक्तिक कुंठा को व्यक्ति के जीवन की एक मूलगत और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति मानकर उसी दृष्टि से उसका चित्रण या विश्लेषण करते हुये पाए जाते हैं। बाहरी परिस्थितियों से वे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं मानना चाहते। यह गलत दृष्टिकोण पिछले कुछ युगों से विश्व-साहित्य को बुरी तरह आक्रांत किये हुये है, जिसका

प्रभाव स्वभावतः आज के भारतीय साहित्य पर अत्यन्त विकृत और घातक रूप में पड़ता हुआ दिखाई देता है।

पिछले युगों के भारतीय साहित्य में चाहे और जो त्रुटियाँ रही हों, पर व्यक्तिगत कुंठा को वह महत्त्व कभी नहीं दिया गया, जैसा आज दिया जा रहा है। मेरा आशय यह नहीं है कि वैयक्तिक कुंठा की उन्होंने उपेक्षा की। उसे उन्होंने साहित्य में अवश्य स्थान दिया। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक ने उसे अपनी रचनाओं में चित्रित और विश्लेषित किया। पर ठीक परिप्रेक्षण में रखकर ही उन्होंने ऐसा किया। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि वह मानवीय जीवन और विशेषकर मानवीय मन के विकास की सहज क्रिया या प्रतिक्रिया है। उन्होंने निश्चित रूप से यह निर्देशित किया कि समाज की बाहरी परिस्थितियाँ ही व्यक्ति की कुंठा को जन्म देती और उसका विकास या ह्रास करती हैं और उन्हें व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में रखने से ही उसका निराकरण या उन्नयन हो सकता है।

आधुनिक युग में शरतचन्द्र ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति के कुंठित जीवन पर काफी प्रकाश डाला है। पर उसे उन्होंने कभी इस हद तक तरजीह नहीं दी कि उसे मूल जीवन से ही संश्लिष्ट मान लेते। बाहरी परिस्थितियों का कितना बड़ा हाथ व्यक्ति के जीवन के भीतरी निर्माण में रहता है इस तथ्य पर वे बराबर जोर देते रहे और कुंठा से मुक्ति पाने के लिये भीतरी परिप्रेक्षण बदलने के साथ ही बाहरी परिस्थितियों को बदलने की आवश्यकता भी बताते रहे। हमारे यहाँ प्रेमचन्द जी ने भी इस दृष्टिकोण को काफी हद तक अपनाया, यद्यपि दोनों की शैली, रूप-विधान और भावनात्मक प्रवृत्तियों में बड़ा अन्तर है।

पर रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र के बाद के बंगला साहित्य में हम कुछ दूसरी ही प्रवृत्ति पाते हैं। उसमें व्यक्ति की कुंठा ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषय बन गयी है और उस कुंठा को नियन्त्रण में ला सकने वाली शक्तियों को गौण महत्व भी नहीं दिया जाता है। नये बंगला

उपन्यासों और कहानियों को पढ़ने से लगता है जैसे व्यक्ति की कुंठा ही सब कुछ है, उसी का चित्रण साहित्य का मूल उद्देश्य है, मानव-जीवन का प्रधान तत्व जैसे वही है और उसके परे कुछ नहीं है। हिंदी के नये साहित्य में भी हम इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मानते हैं। यह ठीक है कि आज के बाह्य जीवन में विषमता, असंतुलन और असामंजस्य इस हद तक बढ़ गया है कि अन्तर्जीवन का अवसाद भी उसी अनुपात में बढ़ता हुआ विकट से विकटतर रूप धारण करता चला जा रहा है। पर साहित्य-सर्जक भी यदि बाह्य जीवन की उन विकृतियों और अन्त-र्जीवन की तद्जनित प्रतिक्रियाओं को ही प्रधानता देने लगे, और काय-रता-वश उन्हीं को जीवन का वास्तविक रूप मान बैठे, तो उससे बड़ी शोचनीय स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। नवीनतम हिन्दी साहित्य में भी कुछ इसी से मिलते-जुलते लक्षण दिखायी देते हैं।

वैयक्तिक कुंठा की प्रतिक्रिया मोटे तौर पर दो रूपों में होती है। एक तो यह कि कुंठित व्यक्ति जीवन से हारकर भीतर के और बाहर के संघर्ष से कतराकर इस हद तक जड़ बन जाय कि उस स्थिति से उबरने की कोई प्रवृत्ति ही उसमें शेष न रहे। दूसरा यह कि कुंठित भावनाएं विद्रोह का रूप धारण कर लें। यह विद्रोह भी दो रूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है—एक तो भीतर की और बाहर की परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट विद्रोह और कुंठित मनःस्थिति से उबरने और ऊपर उठने का सक्रिय प्रयत्न; दूसरा आत्म-विद्रोह जो विद्रोह का विकृततम रूप है। कहना न होगा कि इनमें जड़ता अथवा पलायन वाली प्रतिक्रिया निकृष्ट है। आत्म-विद्रोह का क्रम इसके बाद आता है। सक्रिय और सचेष्ट विद्रोह वाली प्रतिक्रिया ही इन तीनों में स्वस्थ, स्वाभाविक और सर्वोत्तम है। यही विद्रोह जीवन को गति देता है, जड़ से जड परिस्थितियों में विस्फोट पैदा करता है और विकृतियों को धोकर जीवन मे निरन्तर परिष्कार लाता रहता है।

नये साहित्य में—चाहे वह अंग्रेजी का हो, चाहे बंगला का, चाहे

हिन्दी का—हमें आत्म-विद्रोह के लक्षण अधिक सुस्पष्ट दिखाई देते हैं। आत्म-विद्रोह अशक्तता, खीझ और हताश मन.स्थिति की उपज है जो अपने चारों ओर के वातावरण को अपने भीतर के तेजाबी विष से जलाने और गलाने, स्वस्थ प्रवृत्तियों को कुचलने और विकृत प्रति-हिंसात्मक प्रवृत्तियों का नंगा खेल खुल-खेलने में ही जीवन की सार्थकता मानता है।

व्यक्ति की कुंठा अपने आप में उतनी खतरनाक नहीं जितनी उस की यह आत्मघाती प्रतिक्रिया; कुंठा को यदि ठीक से समझा और परखा जाय तो उसे जीवन के स्वस्थ विकास के लिये एक उपयोगी अस्त्र के रूप में काम में लाया जा सकता है। संसार के सभी महान् और स्वस्थ साहित्यकारों ने सभी युगों में उसे इसी कल्याणकारी अस्त्र के रूप में अपनाया है। नये युग के नये लेखकों के लिये यह बहुत आवश्यक है कि वे इस तथ्य पर एकांत, ध्यानपूर्वक, गंभीरता से विचार करें।

साहित्यिक ख्याति और उसका मूल्य

लेखकों का वर्गीकरण मोटे तौर पर तीन प्रकार से किया जा सकता है : उल्का, ग्रह और स्थिर नक्षत्र। उल्का का प्रभाव एक क्षण के लिए अत्यन्त तीव्र होता है। लोग देखते ही चिल्ला पड़ते हैं। "वह देखो !" और वाक्य पूरा भी नहीं होने पाता कि वह सदा के लिए बुझकर विलीन हो ज ता है। ग्रहों और उपग्रहों की स्थिति अपेक्षाकृत लंबे समय तक बनी रहती है। वे कभी-कभी चमक में स्थिर नक्षत्रों (अर्थात् सूर्यों) को भी मात देते हुए से लगते हैं और जो लोग उनकी गतिविधि के रहस्य से परिचित नहीं हैं वे उन्हें स्थिर नक्षत्र ही समझने लगते हैं। इस गलतफहमी का एक कारण यह जानना चाहिए कि वे स्थिर नक्षत्रों की अपेक्षा हमसे अधिक निकट होते हैं।

पर शीघ्र ही वह दिन भी आता है जब उन ग्रहों या उपग्रहों की भी असलियत उघड़ने लगते हैं। जो प्रकाश वे देते हैं वह उनका अपना नहीं होना—स्थिर नक्षत्रों से उधार लिया हुआ होता है। अर्थात् यह किसी दूसरे प्रकाश की परछाईं मात्र होती है। इसके अतिरिक्त उनका प्रभाव-क्षेत्र उनकी अपनी भ्रमण-परिधि तक अर्थात् अपने युग तक ही सीमित होता है। और कुछ ही वर्षों के चक्करों के बाद उनकी जीवन-कथा समाप्त हो जाती है।

केवल स्थिर नक्षत्र ही (जिनमें हमारा सूर्य भी एक है) ऐसे

होते हैं जिनकी स्थिति बनी रहती है। वे पर-प्रेरित प्रकाश से नहीं बल्कि आत्मप्रकाश से जगमगाते हैं। वे किसी एक विशेष पद्धति, एक विशेष राष्ट्र से सम्बंधित नहीं होते, बल्कि समग्र विश्व से उनका सम्बंध रहता है। और चूंकि वे आकाश में बहुत दूरी पर होते हैं, इसलिए उनका प्रकाश इस पृथ्वी के निवासियों तक पहुँचने में कई वर्ष लग जाते हैं।

इस रूपक को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक प्रतिभाशाली होता है उसे ख्याति प्राप्त करने में उतनी ही अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। क्योंकि जन-साधारण उसकी विशेषताओं का सही मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ होता है।

पर एक दूसरा कारण भी है जो इससे किसी भी हालत में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह है युगव्यापी ईर्ष्या, जिसे वास्तविक अर्थ में प्रतिभाशाली लेखक अनचाहे भड़का देता है। ईर्ष्या वह मूल परिचालिका शक्ति है जो किसी कलाकार या द्रष्टा की प्रतिभा के विरुद्ध बिचली बुद्धि वाले व्यक्तियों को विरोधी संगठन के लिये प्रेरणा देती है। अपने क्षेत्र में कोई व्यक्ति दूसरे को भरसक अपने से आगे बढ़ने देना नहीं चाहता। बिना अपने विशिष्ट गुणों से आगे बढ़ने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति उस विशेष क्षेत्र के व्यक्तियों को स्वभावतः अवांछनीय लगने लगता है। इसलिए उसे युग की परिस्थितियों के अनुसार जब तक भी रोक सकना संभव हो तब तक रोकते रहने के प्रयास में बिचली स्थिति के लोग कोई बात उठा नहीं रखते।

किसी विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा के सम्बंध में साधारणतः दो तरह की प्रतिक्रियायें देखी जाती हैं: या तो स्वयं भी उस प्रतिभा को अपना सकने की स्थिति में होना या दूसरों को भी उसके क्षेत्र से वंचित रखने के प्रयत्नों में जुटे रहना। कहना न होगा कि इनमें दूसरा रास्ता अधिक सुविधाजनक है। यह उसी पुराने उपाख्यान वाले पक्षियों

की-सी स्थिति है जो मोर के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के लिये एकत्र हुये थे। उस सभा में तोते ने कहा था : "यदि हम मोर की रंग-बिरंगी पूँछ के प्रदर्शन पर किसी प्रकार नियंत्रण लगा सकें तो उसकी जिस सुन्दरता की लोग प्रशंसा किया करते हैं उसका एकदम खात्मा हो जायगा ; क्योंकि लोग यदि किसी चीज को न देख पायें तो वह उनके लिये ठीक वैसी ही होती है जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न हो।"

यही कारण है कि विनम्रता मानव समाज में क्यों एक अत्यंत प्रशंसनीय गुण मानी जाने लगी। इसका आविष्कार केवल ईर्ष्या की सहज प्रवृत्ति से आत्म-रक्षा करने के उद्देश्य से हुआ। संसार में सब युगों में ऐसे गुंडों की—गुंडों की-सी मनोवृत्ति वाले समाज-नायकों की—कमी नहीं रही है जो विनम्रता के गुण पर अधिक से अधिक जोर देते रहे हैं और जो योग्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संकोचशीलता को उनकी विवशता मानकर मन ही मन पुलकित होते रहे हैं।

पर वास्तविकता यह है कि विनम्रता कोई ऐसा गुण नहीं है जो समाज, साहित्य या मानवत्व के विकास के लिये आवश्यक या अनिवार्य हो। लिख्टेनबर्ग का कहना था कि "विनम्रता केवल उन लोगों के लये गुण हो सकती है जिनके पास कोई दूसरा गुण न हो।" गेटे का यह कथन प्रसिद्ध है (जिसके कारण कई लोग नाराज हो उठे थे) : "केवल धूर्त्त लोग ही विनम्र होते हैं !"[1]

---

१. युग के धूर्तों की ईर्ष्या-परायण आलोचनात्मक प्रवृत्ति से तंग आकर संस्कृत के एक विद्वान् ने झूठी विनम्रता को ताक पर रखकर कहा था :

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पंथाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
न हि तरणिरुदेति दिक्पराधीन वृत्तिः॥

डान क्विजोट के प्रसिद्ध लेखक सर्वान्तीज ने अपनी 'पार्नासिस प्रस्थान' नामक कृति में कवियों के आचरण के कुछ नियम निर्धारित किये हैं, जिनमें एक इस प्रकार है : "प्रत्येक व्यक्ति को जिसे अपनी पद्य-रचनाओं द्वारा यह विश्वास हो कि वह कवि है, अपने सम्बन्ध में ऊँची धारणा बनाये रखना चाहिये, और इस लोकोक्ति पर उसे विश्वास करना चाहिये कि जो व्यक्ति अपने को धूर्त समझता है वह वास्तव में धूर्त होता है।"

शेक्सपीयर ने अपनी अनेक चतुर्दशपदी कविताओं में यह आत्म-विश्वास प्रकट किया है कि उसकी रचनाओं की अवज्ञा संसार उसके मरने के बाद भी नहीं करना चाहेगा, क्योंकि उसने जो कुछ लिखा है वह स्थायी साहित्य है।

किसी अच्छी कृति को ईर्ष्यावश निम्न स्तर का प्रमाणित करने का एक उपाय यह भी काम में लाया जाता है कि उसकी तुलना में किसी बुरी कृति की नियंत्रण-रहित प्रशंसा की जाने लगती है। क्योंकि यदि पाठकों के बीच में बुरी कृति को महान बताकर उसका प्रचार किया जाय तो स्वभावतः कुछ समय के लिये जन-साधारण का ध्यान अच्छी कृति से हट जायगा। पर इस तरह का प्रचार चाहे कैसे ही शक्तिशाली आलोचकों द्वारा कितने ही अधिक संगठित रूप में क्यों न किया गया हो, अंत में एक दिन उसका यथार्थ लेखा-जोखा होता ही है और निश्चय ही उसकी पोल उघड़ जाती है। और तब उन आलोचकों के मुँह में स्वतः कालिख पुत जाती है जिन्होंने उस आडम्बर पूर्ण किन्तु निकृष्ट

"हम पदविद्या में, तर्क-शास्त्र में या आन्वीक्षिकी में चाहे पथ पर चलें चाहे विपथ पर, वही सबके लिये रास्ता बन जाता है। सूर्य जिस किसी भी दिशा में उदित होगा वही पूर्व माना जायगा, क्योंकि किसी एक विशेष दिशा के अधीन होकर सूर्य उदित नहीं होता।"

—अनुवादक

कृति को महान बताकर उसे साहित्य-जगत पर बलपूर्वक थोपना चाहा था। इसलिये अक्सर इस प्रकार के आलोचक गुमनाम रहना पसन्द करते हैं।

यही हाल उन लोगों का होता है जो किसी विशिष्ट और अच्छी कृति की निन्दा व्यक्तिगत या युग के सामूहिक विद्वेष से प्रेरित होकर करते हैं। इसलिये अधिक धूर्त और चतुर आलोचक इस तरह का सीधा उपाय काम में नहीं लाते। वे एक दूसरा ढंग अख्तियार करते हैं। वे लोग जब देखते हैं कि कोई वास्तव में शक्तिशाली व्यक्ति साहित्य के प्रांगण में उतरा है तो वे आपस में सलाह करके या व्यक्तिगत प्रेरणा से उसकी कृतियों के सम्बंध में एकदम मौन धारण कर लेते हैं। यह विद्वेषपूर्ण मौन, जिसे दूसरे शब्दों में 'उपेक्षा' कहा जाता है, एक लम्बे अर्से तक किसी विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति की ख्याति में जबर्दस्त बाधा डाल सकती है। पर अंत में, कभी-न-कभी, वह मौन भंग होता ही है।

किसी की प्रशंसा करना या ख्याति प्रदान करना सहज मानव-स्वभाव नहीं है। मनुष्य का सहज स्वभाव तो यही है कि विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति और उसकी कृति की निन्दा करना। परनिन्दा द्वारा मनुष्य परोक्ष रूप से अपनी प्रशंसा करता है। कोई आलोचक किसी कृति की (चाहे वह कितनी महान् क्यों न हो) प्रशंशा तभी करता है जब उस प्रशंसा द्वारा स्वयं उसके प्रशंसित होने की कोई सम्भावना हो। गेटे ने भी अपने 'पाश्चात्य और प्राच्य दीवान' में कुछ इसी तरह की बात कही है। इसलिये प्रशंसा को दबाना जब कठिन हो जाता है तब धूर्त आलोचकगण इस प्रशंसा में भाग लेकर स्वयं प्रशंसित होने का प्रलोभन नहीं त्याग पाते। क्योंकि स्वयं किसी महान् कृति की रचना कर सकने की क्षमता के बाद जो दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण माना जा सकता है वह है दूसरों की कृति का समुचित मूल्यांकन कर सकना।

माकियाबेली ने गुण-अवगुण की परख के संबंध में तीन प्रकार के

व्यक्तियों की बात कही है । एक तो वे जो स्वयं परख कर सकने की योग्यता रखते हैं; दूसरे वे जो दूसरे के समझाने पर समझ पाते हैं; तीसरे वे जो न तो स्वयं समझ सकने की समर्थता रखते हैं न दूसरों के समझाने पर ही समझ पाते हैं। इसलिये यदि कोई व्यक्ति प्रथम श्रेणी की विशेषता प्राप्त कर सकने में असमर्थ हो तो वह स्वभावतः दूसरी श्रेणी की विशेषता प्राप्त करने को उत्सुक होगा। इस सामूहिक मनोवैज्ञानिक कारण से यह सत्य गणित के सिद्धांत की तरह निश्चत हो जाता है कि चाहे देर से हो या सबेर हो, वास्तविक महत्त्व की कृति की मान्यता एक-न-एक दिन अनिवार्य रूप से होगी ही ।

इस दृष्टिकोण से देखने पर इस तथ्य का कारण भी स्पष्ट हो जायेगा कि जब किसी विशिष्ट रचना का समुचित मूल्य एक बार साहित्य-क्षेत्र में स्वीकृत हो जाता है और उसके गुणों को किसी भी उपाय से छिपाये रख सकने की सम्भावना नहीं रह जाती, तब आलोचकों में इस बात के लिये होड़ लग जाती है कि कौन उसकी प्रशंसा दूसरों से पहले या दूसरों से अधिक करता है। युद्धरत सेना का-सा मनोविज्ञान इस क्षेत्र में भी कार्यान्वित होता है। जिस प्रकार युद्ध के आरंभ में प्रत्येक सैनिक लड़ने में सभी दूसरे सैनिकों से आगे बढ़े रहने के लिये जो उत्साह दिखाता है घिर जाने पर उसी प्रकार हर सिपाही भागने में सबसे पहला नंबर पाने की होड़ लगाने लगता है ।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी महान प्रतिभा-संपन्न कृति के लिये ख्याति प्राप्त करने में चाहे कैसी ही बड़ी कठिनाइयों और बाधाओं का सामना क्यों न करना पड़ता हो, एक बार ख्याति प्राप्त होने पर उसे कायम रख सकना आसान हो जाता है।

यदि किसी रचना के लिये आसानी से ख्याति मिल जाये, तो उसे एक संदेहास्पद लक्षण मानना चाहिये, क्योंकि उसे विशिष्ट पारखियों की आवाज नहीं बल्कि भेदाभेद ज्ञान से रहित साधारण बुद्धि वाली साहित्यिक जनता की प्रशंसात्मक वाणी समझना चाहिये, जो किसी

भी तात्कालिक या क्षणिक आवेश द्वारा निकल पड़ती है। इस तरह की प्रशसा का क्या महत्त्व है, यह बात प्राचीन काल के प्रसिद्ध वक्ता फोशियन के एक मंतव्य से स्पष्ट हो जायगी। एक बार वह एक सार्वजनिक सभा में भाषण दे रहा था। उसकी किसी एक बात पर सहसा उपस्थित जन-समूह ने उत्साहित होकर प्रशंसा में तालियां बजाना आरंभ कर दिया। फोशियन का जो मित्र उसकी बगल में खड़ा था उसके कान के पास मुँह करके उसने पूछा; "क्या मैंने कोई मूर्खतापूर्ण बात कह दी थी ?"

जिस ख्याति को अपेक्षाकृत दीर्घ काल तक स्थायी रहना है उसे परिपक्व होने में भी उसी अनुपात में समय लगना अनिवार्य है। उसे आने वाले कई युगों तक जो जमी हुई ख्याति मिलने वाली है उसके लिये उसे अपने युग की प्रशंसा का मोह त्यागना पड़ता है। साधारण प्रतिभा को अपने ही युग में जल्दी ही ख्याति मिल जाती है (क्योंकि धूर्त और चतुर आलोचक केवल उसी कृति की प्रशंसा करने के लिये प्रवृत्त होते हैं जो उनके अपने बौद्धिक स्तर से कुछ नीची हो—तभी उनके अहम् की तृप्ति संभव है)। पर इस तरह की ख्याति ताश के महल की तरह जल्दी ही ढह जाती है। फल यह होता है कि यौवनकालीन ख्याति अक्सर वृद्धावस्था में नितांत अवज्ञा में परिणत हो जाती है। पर वास्तविक महान कृतियों के रचयिता के सम्बन्ध में इसकी उलटी बात लागू होती है। उसे प्रारम्भ में वर्षों तक मान्यता नहीं मिलती, पर बाद में धीरे-धीरे हर दृष्टिकोण से जब वातावरण बन जाता है तब उसे ऐसी उज्ज्वल ख्याति प्राप्त होती है जो युगों तक स्थायी रहने के लक्षण प्रकट करती है। यह भी सम्भव है कि उसे जो ख्याति हर हालत में एक-न-एक दिन मिलनी ही है वह उसकी मृत्यु के बाद मिले।

तीव्र गति से मिलने वाली ख्याति के अन्तर्गत कृत्रिम और सस्ती किस्म की ख्याति भी आती है। इस तरह की ख्याति उस हालत में प्राप्त होती है जब किसी एक गुट द्वारा किसी कृति की अनुचित प्रशंसा

की जाने लगती है या मित्रों की सहायता और भ्रष्टाचारपूर्ण आलोचना-पद्धति द्वारा किसी साधारण-सी रचना को आवश्यकता से बहुत अधिक बढ़ावा दे दिया जाता है। इस तरह के प्रचार-कार्य का साधारण पाठकों पर कुछ समय के लिये बड़ा प्रभाव पड़ता है। पर यह प्रभाव अधिक टिकाऊ नहीं होता।

इस तरह की ख्याति तैरने में सहायता देने वाले 'ब्लैडर' की तरह होती है, जिसकी सहायता से एक वज़नी शरीर तैरता रहता है। कबतक वह तैरता रहेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह ब्लैडर कितना मजबूत है, किस हद तक ठीक से सिया गया है और कितना फुलाया गया है। चाहे कैसी ही सावधानी से वह 'ब्लैडर' तैयार किया गया हो, अन्त में एक-न-एक बार उसकी हवा निकलेगी ही और जो व्यक्ति या कृति उसके सहारे तैरेगा या तैरती हो उसे कभी-न-कभी मंझधार में डूबना ही होगा। किसी बाहरी शक्ति की सहायता से प्राप्त हर प्रकार की ख्याति का यही अनिवार्य परिणाम होता है। झूठी प्रशंसा नये युग के नये प्रकाश में मुरझाकर समाप्त हो जाती है; मित्रों का संगठन ढीला पड़ जाता है; नये और प्रबुद्ध आलोचक उस ख्याति को निराधार बताने लगते हैं! इस प्रकार वह कपूर की तरह विलीन हो जाती है और घृणा उसका स्थान दखल कर लेती है। इसके विपरीत जिस कृति के भीतर दम होता है और जो अपने ही बल पर खडी होती है, वह एक ऐसी वस्तु की तरह है जिसका अपेक्षित घनत्व बहुत कम होता है; इसलिये वह समय के प्रवाह में बिना किसी रुकावट के अपने-आप तैरती चली जाती है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति, चाहे वे कवि हों, दार्शनिक हों या कलाकार, सभी युगों में एकाकी वीर नायकों की तरह होते हैं, और वे विरोधियों की संगठित सेना के साथ अकेले लड़ते रहते हैं। साधारण मनुष्यों की अपरिमार्जित बुद्धि, जड़ता, विकृति और बर्बरता बराबर किसी भी प्रतिभावान व्यक्ति के विकास में बाधा-स्वरूप सिद्ध होते हैं। उसे ढोंग-

भरे, छिछले, नीरस और कृत्रिम गांभीर्यपूर्ण विचारों का सामना करते रहना पड़ता है। विवेकशील रसज्ञ आलोचक हैमलेट की तरह (जब वह अपनी माँ के आगे अपने मृत पिता का चित्र रखता है) बार-बार साहित्य-प्रेमी पाठक से कहता जाता है : "क्या तुम्हारे आँखें हैं ! क्या तुम्हारे आँखें है !" पर उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहता जब वह देखता है कि सचमुच उनके पास परख की दृष्टि नहीं है।

विशेष प्रतिभावान व्यक्तियों के सम्बन्ध में अक्सर यह कहा जाता है कि वे अपने युग की उपज होने पर भी अपने समय से बहुत आगे बढ़े होते हैं। समय से आगे होने का अर्थ यह है कि वे अधिकांश मनुष्यों की अपेक्षा अधिक प्रतिभा, ज्ञान या रसज्ञता रखते हैं।

कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि किसी एक विशेष युग में जब कोई विराट प्रतिभाशाली व्यक्ति उतरता है तब कुछ विशेष प्राकृतिक नियमों के क्रम से उसे अपने चारों ओर का वातावरण बहुत अनुकूल मिलता है—अर्थात् उसी युग में कुछ ऐसे व्यक्ति भी पैदा होते हैं जो उसकी कृति की विशेषताओं की ठीक-ठीक परख कर सकने की क्षमता रखते हैं। यह ठीक उसी तरह होता है जिस तरह हिन्दुओं की एक सुन्दर पौराणिक कथा के अनुसार जब विष्णु अवतार लेते है तब ब्रह्मा भी उसी समय उनकी पृथ्वी पर की लीला का गुणगान करने के लिये अवतरित होते हैं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ब्रह्मा के ही अवतार हैं।

इस प्रकार प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृति अपने युग को कसौटी पर रखती है। वह इस बात की परीक्षा लेती है कि जिस युग में इसकी रचना हुई है वह युग उसकी विशेषता को समझने की योग्यता रखता है या नहीं—कहीं आनेवाले युग पर तो उसकी परख का भार वह नहीं छोड़ जाता।

साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से अक्सर यही बात देखी जाती है कि जब-जब विराट प्रतिभाशाली पुरुषों ने भक्ति और ज्ञान के

क्षेत्र में गहन साधना द्वारा उस विशेष ज्ञान का प्रचार किया है तब-तब उन विशेष-विशेष युगों में उनको लोग पूरी तरह से समझ नहीं पाये हैं और वे अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध ही रह गये हैं; और जो लोग थोड़े से ज्ञान को फैलाकर आडम्बर के साथ उसका प्रदर्शन करते रहे हैं उन्हें उनके समसामयिक आलोचकों और पाठकों की प्रशंसा मिली है और साथ ही आर्थिक लाभ भी हुआ है।

इस तरह सैकड़ों निकम्मे व्यक्ति गुटों और मित्रों की सहायता से समसामयिक ख्याति जल्दी पा जाते हैं, जब कि योग्य व्यक्ति बहुत ही संघर्षों के बाद धीरे-धीरे मान्यता प्राप्त करते हैं। अयोग्य व्यक्ति को अपनी ही तरह के अयोग्य व्यक्तियों की सहायता सहज-सुलभ हो जाती है, क्योंकि चोर-चोर मौसेरे भाई होते हैं, पर योग्य व्यक्ति अपने विचारों की मौलिकता और स्वतंत्रता के कारण एक को भी अपना मित्र नहीं बना पाता, बल्कि विरोधियों और गुप्त या प्रकट शत्रुओं की ही संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। क्योंकि बौद्धिक श्रेष्ठता सदा संसार में दूसरों का विरोध और घृणा उभाड़ती है--विशेष करके उन व्यक्तियों की जो उसी समान क्षेत्र में काम करते हों।

इन बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी महान् कृति की रचना के लिये सबसे पहली शर्त यह है कि लेखक अपने समसामयिक आलोचकों की बातों पर अधिक ध्यान न दे—उनकी टिप्पणियों, विचारों या सम्मतियों, उनके प्रशंसात्मक या निंदामूलक मंतव्यों पर विशेष महत्त्व आरोपित न करे। क्योकि यदि वह उनकी बातों पर ध्यान देता रहेगा तो पग-पग पर अपने उस लक्ष्य से भटकता चला जायगा। इसलिये यदि वह शताब्दियों तक अपनी कृति का स्थायित्व चाहता है तो उसे समसामयिक ख्याति के प्रलोभन से अपने को बचाना होगा।

क्योंकि जब कभी कोई नया, महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी सत्य साहित्य-क्षेत्र में किसी प्रचंड प्रतिभाशाली व्यक्ति के माध्यम से आता है तब उसके विरुद्ध सारा युग संगठित हो उठता है। पर वह नया सत्य

धीरे-धीरे तेजाब की तरह अपने आस-पास के सारे जीर्ण और गलित तत्त्वों और रूढ़िवादी संस्कारों तथा विचारों को गलाता चला जाता है। फलस्वरूप बीच-बीच में पुरानी दीवारों में दरारें पड़ जाती हैं, गतिहीन रूढ़ियों और भ्रांतियों के दंभस्तूप विकट शब्द के साथ ढहने लगते हैं, और नयी क्रांतिकारी विचार-धारा एक नये और आकस्मिक प्रकाश की तरह जनता के आगे प्रकट होती है। तब उसके उन्नायक की खोज होने लगती है। साधारणतः यह देखने में आता है कि लोग किसी क्रांतद्रष्टा साहित्य-स्रष्टा की बातों का मूल्य उसके चले जाने के बाद समझने लगते हैं। उनके 'वाह-वाह' के नारे तब गूँजते हैं और तालियाँ तब बजती हैं जब वक्ता मंच पर से उठकर चला जाता है।

किसी भी भाषा में जो साहित्यिक पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमें १,००,००० में से केवल एक ऐसी निकलती है, जो स्थायी महत्त्व की कृति होती है। उस एक पुस्तक को पहले ९९,९९९ पुस्तकों द्वारा खड़ी की गयी विरोधी दीवार से अकेले जूझना पड़ता है। अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त करने के पूर्व उसे बड़े विकट संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

किसी वास्तविक महत्त्व की रचना को युग के विरोधी वातावरण पर आलोचनात्मक जाल-जंजाल से मुक्त करके आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाने के लिये जो एकाकी यात्रा करनी पड़ती है वह सहारा रेगिस्तान के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक की पैदल-यात्रा के समान है। यह यात्रा कैसी भीषण है, अनुभवहीनों को यह बात समझा सकना आसान काम नहीं है।

[शोपेन हॉवर के एक लेख के आधार पर]

साहित्य में वैयक्तिक स्वतंत्रता बनाम सामाजिक चेतना

मानवीय सभ्यता के विकास का मूल आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता की चेतना नहीं बल्कि सामाजिक संगठन की चेतना है। यदि हम सभ्यता के आदिकाल से लेकर उसकी आज तक की प्रगति के इतिहास पर बारीकी से विचार करें तो हम देखेंगे कि बाहर की बहुत-सी उलटी-सीधी प्रवृत्तियों के विकास और ह्रास, द्वन्द्व और संघर्ष के बावजूद सामाजिक चेतना की एक ऐसी अक्षुण्ण अन्तर्धारा निरन्तर प्रवाहित और विकसित होती चली आयी है जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता कटकर, छट-कर, सिमटकर, घुलकर, सामूहिक मानवता में एकाकार होकर महा-मानवता के महासागर में महामिलन की ओर अनवरत बढ़ती चली गयी है। सामूहिकता के लिये वैयक्तिकता के त्याग और महामानवता में उसके समर्पण के लिये व्यक्ति के निरन्तर प्रयास, द्वन्द्व और संघर्ष की अटूट क्रिया-परम्परा ही मानवीय सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का इतिहास है।

प्राथमिक मानव में जब सांस्कृतिक चेतना जगी तब सब से पहले उसे यूथ-संगठन की प्रेरणा ने बल दिया। यूथ-संगठन के बिना वह सभ्यता की ओर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता था। और उस यूथ-

संगठन को दृढ़ और विकासशील बनाने के लिये उसने व्यक्ति की सहज, निर्बन्ध और विशृंखल आदिम प्रवृत्तियों पर कठोर नियंत्रण लगाने की अनिवार्य आवश्यकता महसूस की। 'टैबू' का आरम्भ उसकी इसी सामाजिक और सामूहिक-सांस्कृतिक चेतना में हुआ। इसके पहले व्यक्ति अपनी यौन प्रवृत्ति की अनियंत्रित तुष्टि के लिये स्वतन्त्र था। एक ही परिवार के और एक ही रक्त से सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों में यौन सम्बन्ध बिना किसी रोक-टोक के, यथेच्छ और निबाध रूप ले चलता रहता था। पर सांस्कृतिक और सामाजिक विकास की आदिम प्रज्ञा जब प्राथमिक मानव के भीतर प्रस्फुटित हुई तब उसने उसी सहज ज्ञान से यह अनुभव किया कि यौन-प्रवृत्ति की अबाध चरितार्थता पर बंधन लगाना आवश्यक ही नहीं, मानवीय प्रगति के लिये अनिवार्य भी है। उसने व्यक्ति को इस बात के लिये बाध्य किया कि वह अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को तिलांजलि देकर सामूहिक मानवीय प्रगति और कल्याण के लिये अपनी अहगत चेतना की बलि दे और अपने को अलग न समझकर समाज का एक अविच्छिन्न अंग माने।

सामाजिक चेतना के विकास का पहला कदम और मूल आधार यही प्रारम्भिक नियन्त्रण था। उसके बाद ज्यों-ज्यों वह चेतना विकसित होती चली गयी और छोटे-छोटे यूथ पारस्परिक संघर्षों के बाद एक-दूसरे से मिलकर बड़े-बड़े यूथों और समाजों में परिणत होते चले गये, त्यों-त्यों संगठन-क्षेत्र के विस्तार के साथ प्राकृतिक उन्नति भी होती चली गयी।

युग पर युग बीतते चले जाने और विभिन्न भूमि-भागों में बसे हुये वृहत् मानव-यूथों द्वारा सामूहिक प्रयोग पर प्रयोग होते चले जाने के बाद वह स्थिति आयी जब आदिम मानव के भीतर प्रस्फुटित सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के बीज-कण विकसित होते-होते एसीरियन, सुमेरियन और वैदिक आर्य-सभ्यता में परिणत हुए।

वैदिक सभ्यता तक प्राक्मानव-समाज केवल इस कारण से पहुँच

पाया कि वह निरन्तर व्यक्ति की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण लगाता चला गया और उसे बराबर इस बात के लिये प्रेरित, बाध्य और विवश करता चला गया कि वह अपनी स्वतन्त्र चेतना का बहुत बड़ा अंश सामूहिक चेतना में विलीन करता चला जाय; उसकी वैयक्तिक चेतना का जो अंश शेष रह जाय उसे चिंतन और मनन की ओर नियोजित करे और वह चिंतन और मनन भी अपने ऐकांतिक सुख-साधन या वैयक्तिक बुद्धि-विलास के लिये न होकर सामाजिक कल्याण और सामूहिक सम-उन्नति के नये-नये उपायों के उद्‌भावन के उद्देश्य से हो।

प्राक्‌मानव-समाज की यूथ-सभ्यता और वेदकालीन मानव-समाज की कई गुना अधिक सुसंस्कृत सभ्यता में यह अंतर नहीं था कि पहली स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुँचने में व्यक्ति ने स्वतन्त्रता की एक बहुत बड़ी सीढ़ी पार कर ली। वैदिक युग में भी व्यक्ति समाज द्वारा उसी हद तक—बल्कि उससे कहीं अधिक—नियन्त्रित था जितना कि यूथ-युग में। यदि ऐसा न होता तो वेदकालीन उन्नत और विकसित समाज में वह सुन्दर व्यवस्था और सुगठित शृंखला न आ पाती जिसके प्रमाण हमें उस युग के साहित्य में मिलते हैं। उक्त दो स्थितियों में अंतर केवल यह था कि वैदिक युग का सुनियंत्रित और सुमर्यादित समाज सामूहिक चिंतन, मनन और उन्नयन के फलस्वरूप अधिक कलात्मक, अधिक शालीन और अधिक संस्कृत हो गया था। व्यक्ति की स्वतन्त्र (बल्कि निस्तंत्र) और उच्छृंखल प्रवृत्तियों को प्रश्रय न देने और वैयक्तिक चेतना को सामूहिक चेतना के विकास के उद्देश्य से नियोजित करने के फलस्वरूप ही वैदिक समाज इस हद तक उन्नति कर सका। वेदकाल का यह नारा था :

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।

यह केवल नारा ही नहीं था बल्कि उस युग की सामाजिक चेतना का मूल मंत्र था। उस युग में वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना के प्रति किस हद तक समर्पणशील थी वह उस युग के बड़े-बड़े सामाजिक विधि-विधान, कर्मकांड और मंत्र-तंत्रों से प्रमाणित होता है। तभी उस युग ने

सामूहिक कल्याण के सामगान से आकाश को गुँजाने में पूर्ण सफलता पायी।

वैदिक युग के बाद रामायण-युग आया। उस युग के नायक राम थे जो इस प्रमुख विशेषता के कारण ही हजारों वर्षों तक जन-मन में जीते रहे कि वह मर्यादापुरुषोत्तम थे। यदि व्यक्ति-स्वातंत्र्य को उस युग में तनिक भी प्रश्रय दिया गया होता और सामाजिक संविधान की वैयक्तिक शृंखला तनिक भी ढीली होती तो न राम के लिये बन जाने की कोई विवशता रह जाती और न सीता के निर्वासन की स्थिति ही उपस्थित होती। आज के परिवर्तित युग में भले ही ये दोनों स्थितियाँ लोगों को हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण लगें, पर उस युग की कड़ी सामाजिक शृंखला में बँधी हुई जनता को वे वैयक्तिक दृष्टि से दुःखद लगने पर भी सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय लगती थीं और कई युगों तक लगती रहीं। स्मरण रहे कि मैं सीता-निर्वासन की कोई सफाई नहीं दे रहा हूँ; मैं केवल इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि उस युग में वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना के प्रति किस हद तक समर्पणशील थी। व्यक्तिगत रूप से राम सीता को निर्वासित करना नहीं चाहते थे पर सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिये उन्होने वैयक्तिक स्वतंत्रता की बलि दे दी। मैं मानता हूँ कि सामाजिकता के प्रति यह आवश्यकता से अधिक आग्रह है। पर इस दृष्टांत से यह प्रमाण तो मिलता ही है कि मानवीय सभ्यता के विकास में सामाजिक नियन्त्रण का कितना बड़ा हाथ रहा है।

ऐसे उच्छृङ्खलतावादी दार्शनिकों की कोई कमी न रामायण के युग में थी न आज है जो वैयक्तिक चेतना को सामाजिक चेतना के ऊपर प्रश्रय दिया करते थे। राम के युग में जाबालि नाम के एक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी दार्शनिक ने राम को इसलिये धिक्कारा था कि वह केवल पिता के वचन की रक्षा के लिये दीर्घकालीन वनवास सहर्ष स्वीकार करने की मूर्खता कर रहे हैं। यह मानना पड़ेगा कि ऐसे लोग अपने तर्क-जाल को बड़ी

चतुराई से रखने की कला में पारंगत होते हैं। जाबालि ने राम से कहा :

"हे राघव, आपकी बुद्धि इस तरह कुंठित नहीं होनी चाहिये। आप आर्य-बुद्धि हैं और मनस्वी हैं। तनिक सोचिये तो, कौन किसका आत्मीय है और किसका किससे संबंध है ! प्रत्येक व्यक्ति अकेला जन्म लेता है और अकेला ही नष्ट भी होता है।

"यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—जो व्यक्ति इस तरह के भ्रम में फँसा रहता है उसे पागल ही समझना चाहिये। वास्तव में कोई किसी का नही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य एक गांव से दूसरा गाँव को जाता हुआ, मार्ग में कहीं ठहर जाता है और दूसरे दिन उस गाँव को छोड़ देता है, उसी प्रकार माता-पिता, घर, संपत्ति और समाज भी अस्थायी आश्रय की तरह हैं। इसलिये आप, धर्म के कृत्रिम बंधन में बँधकर पिता का राज्य न छोड़ें। अयोध्या में जाकर राज्यलक्ष्मी का मनमाना उपभोग करें। पिता केवल जन्म का कारण और बीज मात्र है। ऋतुमती माता उस बीज का आश्रय है। आप व्यर्थ में इस झूठे संबंध और झूठी मर्यादा के लिये पीड़ित हो रहे हैं।

"जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्यागकर, आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोगकर धर्माचरण करते हैं और ऐसा करते-करते विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, मुझे उन्ही लोगों के लिये दुःख है।

"हे महामते, जो सामने है उसे ग्रहण कीजिये और परोक्ष को भुला दीजिये।"

उत्तर में राम ने कहा :

"आपने मुझे प्रसन्न करने के लिये जो बातें कही हैं वे ऐसी चतुराई से भरी हैं कि अकरणीय होने पर भी करणीय-सी लगने लगती हैं और न्यायनीति से रहित होने पर भी न्यायानुमोदित होने का भ्रम पैदा करती हैं।

"पर वास्तविकता यह है कि सामाजिक मर्यादा से रहित, अनैतिकता और यथेच्छाचार को प्रश्रय देने वाला आचरण किसी प्रकार भी संतों

द्वारा मान्य नहीं हो सकता, यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा निर्धारित मर्यादा में न रहकर, अशुचि आचरण करने पर भी शुचि बनने, दुःशील होकर भी शीलवान बनने और अधर्म के पथ का अनुसरण करने पर भी धर्म का झूठा वेश ओढ़ने का ढोंग रचूँ और वेदबाह्य कर्मों को अपनाकर संकरता बढ़ाने में स्वेच्छाचारियों की सहायता करूँ तो कार्याकार्य का सम्यक् विवेचन करने वाले लोग कैसे मेरे इस लोकदूपित आचरण का आदर करेंगे ?

"यदि मैं यथेच्छाचारी होकर सत्य-प्रतिज्ञा के पालन से मुँह मोड़ने लगूँ तब साधारण जन भी निश्चय ही मनमानी करने लगेंगे। क्योंकि प्रजा राजा के ही आचरण का अनुसरण करती है।

'सत्य पर प्रतिष्ठित लोक-धर्म पर ही यह संसार टिका हुआ है। अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न चतुर लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों के भुलावे में आकर, न अज्ञान और क्रोध के वशवर्ती होकर सत्य की मर्यादा रूपी जीवन-सेतु को तोड़ूँगा।

"जिस सत्य और धर्म रूपी लोक-मर्यादा का भार सत्पुरुष लोग परंपरा से ढोते चले आ रहे हैं उस पर मेरी पूरी आस्था है।...... मैं ढोंग और कपट त्यागकर, कर्तव्याकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करके वैदिक क्रिया-कलाप और रीति-नीति में पूरी श्रद्धा रखकर, लोकधर्म का समुचित पालन करूँगा।

"हे जाबालि, सत्य आचरण, अपने-अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन, अन्याय के प्रति पराक्रम-प्रदर्शन, समस्त प्राणियों का हित-चिंतन—ये ही कर्म संत लोगों द्वारा लोक-परलोक में हितकर माने गये हैं।"

रामायण के बाद जो युग विशेष महत्वपूर्ण था, वह था महाभारतकाल। इस युग में भी व्यक्ति की स्वचेतना को सामाजिक मर्यादा के भीतर बाँधकर मनुष्य की सामूहिक-सांस्कृतिक चेतना के विकास का आदर्श महाभारतकार ने स्थापित किया है। उस युग में भी आज ही की तरह दो परस्पर विरोधी महागुट आर्यावर्त की राजनीतिक,

सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना का परिचालन और नियंत्रण कर रहे थे। उनमें से एक था व्यक्ति-स्वतंत्रतामूलक यथेच्छाचारवादी गुट और दूसरा था स्वचेतना और वैयक्तिक स्वतत्रता को सामूहिक चेतना और वृहत् सामाजिक संगठन के साथ सुमर्यादित और संतुलित रूप से नियोजित करके एक महान् मानवीय आदर्श की प्रतिष्ठा पर जोर देने वाला महादल। इनमें दुर्योधन की व्यक्ति-स्वातन्त्रीय चेतना के आध्यात्मिक विकास ने सम्पूर्ण युग को ठीक उसी तरह महाध्वंस में निमग्न कर दिया था जिस प्रकार हिटलर की स्वचेतनावादी दुर्महत्वाकांक्षा ने उसे तानाशाह बनाकर समग्र यूरोप को—सारे विश्व को—द्वितीय महायुद्ध की चरम स्थिति तक घसीट लिया, युधिष्ठिर का आदर्श गाँधी की तरह था। वैयक्तिक चेतना को मर्यादित तथा समाज-नियंत्रित करके उसे समग्र मानवता के सामूहिक कल्याण की ओर पूर्णत: उन्मुख करते हुए विश्व-चेतना में उसकी परिणति का मनन-संगठित प्रयास ही उसका ध्येय था। यदि स्वचेतना की स्वतन्त्रता को ही युधिष्ठिर ने तथा उनके भाइयों ने महत्व दिया होता तो वह नाना विकट अत्याचार सहते हुए वनवास की दीर्घ अवधि और अज्ञातवास की कठिन परीक्षा को चुपचाप बिना किसी शिकायत के स्वीकार कभी न करते और किसी भी क्षण युद्ध द्वारा कौरव-पक्ष का विध्वंस कर सकते थे। पर मर्यादापुरुषोत्तम की तरह उन्हें भी सामूहिक हित के लिये कुछ विशिष्ट सामाजिक मर्यादाओं में बँधे रहना अभीष्ट था। इसलिये कई बार द्रौपदी का विकट अपमान सहन करते हुए, दांतों को पीसकर, नीम का-सा कड़वा घूंट पीकर वे चुप रहे, और मर्यादा की पूरी रक्षा कर चुकने के बाद ही कोई अन्यथा गति न देख-कर, वह युद्ध के लिये विवश हुये।

कृष्ण जैसे लोकोत्तर पुरुष को, जिन्होंने चिंतन और मनन के क्षेत्र में अपनी वैयक्तिक चेतना को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था; किसी प्रकार का कोई सामाजिक नियंत्रण मानने या स्वचेतना को सामूहिक लोक-(हित)-चेतना के साथ संयोजित करने की कोई विवशता

नहीं थी, पर लोक-संग्रह के उद्देश्य से वह अंत तक सभी क्षेत्रों में सामाजिक मर्यादा का पूर्ण पालन करते रहे। गीता में तथा महाभारत के कई स्थलों में उन्होंने इस तथ्य पर विशेष प्रकाश डाला है और बहुत जोर दिया है। गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः', इस कथन का बहुत गलत अर्थ आजकल व्यक्ति-स्वतन्त्रता वादियों द्वारा लगाया जा रहा है, ठीक जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ के 'ऐक्ला चलो रे' शीर्षक गीत का। गीता का 'स्वधर्म' व्यक्ति की वह सामूहिक कल्याणोन्मुखी आत्मोपलब्धि है जो सामाजिक चेतना के साथ वैयक्तिक चेतना के संतुलित संयोजन को केवल अंधभाव से—केवल दूसरों पर आश्रित विश्वास द्वारा—नहीं अपनाती, बल्कि उसकी अपनी निजी बुद्धि और स्वानुभूति द्वारा उसके महत्त्व का यथार्थ बोध कराने में समर्थ होती है। युग की विकसित सामाजिक चेतना के प्रति वैयक्तिक चेतना को आत्म-समर्पण हर हालत में—जानकर या अनजान में, चाहे-अनचाहे—करना ही होगा, बशर्ते आत्मघात के पथ को अपनाने की अनिवार्य विवशता (कुछ विशेष मनोवैज्ञानिक कारणों से) व्यक्ति को न हो। पर वह संयोजन या समर्पण जब आत्मानुभूति या आत्मोपलब्धि द्वारा आता है तब वह व्यक्ति का स्वधर्म बन जाता है—पर-प्रेरित धर्म नहीं रह जाता। केवल इतना ही अंतर है।

महाभारत के बाद बौद्ध युग आया। इस युग में किन्हीं अज्ञात कारणों से, जिनका ठीक-ठीक पता इतिहासकार अभी तक नहीं लगा पाये हैं, सामूहिक जीवन अत्यंत अरक्षित और अव्यवस्थित हो उठा था। मेरा ऐसा विश्वास है कि उस युग में छोटे-छोटे मांडलीक राजाओं के बीच निरन्तर लड़ाई-झगडे और युद्ध-विग्रह चलते रहने के कारण आर्यावर्त में जन-जीवन अरक्षित हो उठा था और अराजकता फैलने लगी थी, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की अर्थात वैयक्तिक यथेच्छाचार, उच्छृंखलता और सामाजिक उत्तरदायित्व से कतराने की प्रवृत्ति ऐसे ही हताश युग में उभड़ती है। बुद्ध के आविर्भाव के लिये यह अत्यंत अनुकूल अवसर

था। बुद्ध ने जब देखा कि उत्तरदायित्वहीनता को, उस सामूहिक पागल-प्रवृत्ति की बाढ़ को बाँध रखना सहज में सम्भव नहीं है तब उन्होंने परिस्थिति से लाभ उठाकर उस प्रवृत्ति को धर्म और त्याग की ओर नियोजित किया। पर त्याग मे भी उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रश्रय नहीं दिया और भिक्षुओं को संघबद्ध कर दिया।

उसके बाद कालिदास का युग आया। कालिदास ने अपने युग के व्यक्तिवादी राजाओं की उछृंखल प्रवृत्ति को सामाजिक अनुशासन के भीतर बाँधने के उद्देश्य से रघुवंशियों की उदात्त सामाजिक चेतना की ओर उन लोगों का ध्यान आकर्षित किया। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के क्षेत्र में अनाचार देखकर, प्रेम को साधारण रागात्मक वृत्ति से बहुत ऊँचा उठा हुआ मानकर 'कुमारसम्भव' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' में उसे अत्यन्त उन्नत आदर्शात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

कालिदास के बाद भवभूति ने भी वैयक्तिक रागात्मकता का उन्नयन करके उसका समाजीकरण किया और 'उत्तररामचरित' में राम की वैयक्तिक भावनाओं को सामूहिक और सामाजिक चेतना के भीतर बाँधा।

प्रायः उसी युग में—कुछ ही पूर्व—बाणभट्ट ने अपने युग के उन कवियों की व्यक्तिवादी और उच्छृंखल प्रवृत्ति की निंदा की थी जो "कोकिलाः इव जायन्ते वाचालाः कामकारिणः।" अर्थात् जो कोकिल की तरह दायित्व से मुक्त होकर काव्य-कानन को अपनी वाचालता से मुखरित कर रहे थे और केवल काम-कला सम्बन्धी कविताओं में मग्न रहकर सामाजिक मर्यादा को शिथिल करने मे लगे थे। इसलिये उसने महाश्वेता के अपूर्व सुन्दर और तपपूत चरित्र की अवतारणा करके प्रेमानुभूति को सामाजिक और नैतिक आदर्श के अन्तर्गत एक साधना में परिणत करके दिखाया।

इस प्रकार वेदकाल से लेकर बाणभट्ट के युग तक सभी श्रेष्ठ कवियों ने व्यक्ति की रागात्मक प्रवृत्तियों को भी सामाजिक शृंखला में बाँधकर उन्हें उच्च आदर्शों की ओर उन्मुख करने के प्रयत्न में कोई बात उठा

नहीं रखी। भोग को त्याग द्वारा नियंत्रित करने और वैयक्तिक प्रवृत्तियों को सामाजिक अनुशासन द्वारा संयमित करने के आदर्श की परम्परा इस देश में युगों तक अक्षुण्ण बनी रही। हजारों वर्षों की सांस्कृतिक प्रगति के बाद भी सामाजिक चेतना के विकास और वैयक्तिक भावनाओं के नियंत्रण के आदर्श में तनिक भी कमी नहीं आयी, बल्कि वह उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया।

भवभूति और बाणभट्ट के बाद इस देश में प्रमुख श्रेष्ठ कवि तुलसीदास हुए। तुलसीदास ने भी वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की तरह राम को ही अपना आदर्श नायक माना। विभिन्न युगों में जो इतने कवि राम-चरित के प्रति आकर्षित हुए, इसके पीछे निश्चय ही एक बहुत बड़ा कारण था। वह कारण स्पष्ट ही यह था कि सामाजिक मर्यादा की रक्षा के सम्बन्ध में जितना अधिक आग्रह हम राम के चरित्र में पाते हैं उतना किसी दूसरे आदर्श-चरित्र में नहीं पाया जाता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस देश में वैयक्तिक स्वतंत्रता को सामाजिक मर्यादा की तुलना में कभी महत्त्व नहीं दिया जाता था।

तुलसीदास के बाद इस देश के महानतम कवियों की परम्परा में रवीन्द्रनाथ आते हैं। रवीन्द्रनाथ विराटवादी कवि थे, इसलिये सामाजिक चेतना के विकास पर निरन्तर जोर देते हुये भी उन्होंने वैयक्तिक चेतना की माँगों की अवज्ञा नहीं की। सच तो यह है कि कोई भी ईमानदार कवि वैयक्तिक चेतना की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता। पर साथ ही कोई भी महान कवि—चाहे वह किसी भी युग का हो—व्यक्तिगत अनुभूतियों और प्रवृत्तियों को सामूहिक-सामाजिक दायरे के भीतर बाँधने का आग्रह प्रकट किये बिना भी रह नहीं सकता। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में हम पग-पग पर सामाजिक दायित्व का बोध जगा हुआ पाते हैं। उनकी वैयक्तिक चेतना की कोई भी माँग इस व्यापक दायित्व के ज्ञान से शून्य नहीं है। उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि विशुद्ध सौन्दर्यानुभूति भी सामाजिक आदर्श के अनुसार निर्धारित संयम द्वारा ही गहनतर और उच्चतर

हो पाती है। कला में सौंदर्य सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में संयम को महत्त्व देते हुए वह लिखते हैं : "मैं केवल नैतिक आदर्श की दृष्टि से नहीं बल्कि सौंदर्यानुभूति और आनन्द की दृष्टि से भी संयम की आवश्यकता की बात कह रहा हूँ।"

यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि यह संयम, जिस पर रवीन्द्रनाथ ने इस हद तक जोर दिया है, क्या है ? उसका मूल उत्स कहाँ पर है ? उत्तर कुछ कठिन नहीं है। संयम चाहे किसी भी क्षेत्र में हो, पर वह व्यक्ति पर समाज द्वारा आरोपित नियन्त्रण का ही फल होता है। मनुष्य जब तक पशु-स्थिति में था तब तक संयम की कोई कल्पना ही वह नहीं कर सकता था। जब उसमें सभ्य और संस्कृत बनने की चेतना अज्ञात रूप से जगी तभी उसकी सहज प्रज्ञा ने उसे संयम के महत्त्व का बोध कराया। व्यक्ति जब सामूहिक संगठन की प्रक्रिया के दौरान में सामाजिक मर्यादा के भीतर बँधने लगा और उसकी उच्छृंखल, तंत्रहीन, वैयक्तिक पशु-प्रवृत्तियों के खुले प्रदर्शन का अधिकार उससे छीन लिया गया तभी वह कवि बन सका। अपनी दमित प्रवृत्तियों का उन्नयन वह तभी कर सका। यदि उसकी वैयक्तिक यौन प्रवृत्ति को खुली छूट मिली रह जाती तब उस अनायास तुष्टि का फल स्वभावतः यह होता कि उस प्रवृत्ति के उन्नयन और उदात्तीकरण की कोई आवश्यकता या अनिवार्यता उसके लिये न रह गयी होती।

इसलिये यह बात बिना किसी झिझक के कही जा सकती है कि केवल मानवीय सभ्यता और संस्कृति के ही नहीं, सौंदर्य-बोध, कला और काव्यात्मक भावना के भी विकास का आदि कारण सामाजिक दमन, संयम और अनुशासन ही है व्यक्ति-स्वतन्त्रता नहीं। दमित प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण द्वारा ही मनुष्य स्थूल पशु-चेतना की स्थिति से ऊपर उठा और मानव-मन में काव्यात्मक सौंदर्य-चेतना तभी जगी, किसी दूसरे कारण से नहीं।

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान ।

यह काव्यात्मक 'आह' आदि कवि के अन्तर से गीत के रूप में, तभी फूटकर प्रवाहित हो सकती थी जब दीर्घ सामाजिक अनुशासन के फलस्वरूप उसकी दमित पशु-प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म रागात्मक चेतना में परिणत होकर भावों की इन्द्रधनुषी रंगीनी में बदल गयीं ।

मुक्ति की इच्छा प्रत्येक मनुष्य के मन में सहज ही वर्तमान रहती है। हर आदमी अपने अंतर में जाने-अनजाने यह आकांक्षा पाले रहता है कि उसे सभी प्रकार के सामाजिक बंधनों और उत्तरदायित्वों से छुट्टी मिल जाय । पशु-जीवन में जिस निर्बाध स्वतन्त्रता का स्वाद वह पा चुका है, उसे वह लाखों वर्षों के मानवीय जीवन के बाद भी अभी तक भूल नहीं पाया है और रह-रहकर उसके मन में सामाजिक अनुशासन का (फिर चाहे वह अंततः कैसा ही कल्याणकारी क्यों न हो) विरोध करने की प्रवृत्ति जोर मारने लगती है । पर मानव-जीवन का विकास-पथ कुछ ऐसे टेढ़े-मेढ़े, उल्टे-सीधी चक्करों से होता हुआ आगे बढ़ा है कि सामाजिक अनुशासनों के बिना वह प्रगति ही नहीं कर सकता । इसलिये समाज की मर्यादा के बाहर उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती । यही कारण है कि स्वस्थ प्रवृत्ति वाले परिपक्व-बुद्धि मनीषियों ने रवीन्द्रनाथ के निम्न शब्दों में हर युग में यह वाणी घोषित की है :—

सहस्र बंधन माझे महानंदमय
लभिबो मुक्तिर स्वाद ।

"मैं सहस्रों बधनों के बीच में मुक्ति का स्वाद पाऊँगा ।" एक दूसरी कविता में कवि कहता है :

मुक्ति ? ओरे मुक्ति कोथा पाबि ?
मुक्ति कोथा आछे ?
आपनि प्रभु सृष्टि-बाँधन परे
बाँधा सबार काछे ।

"मुक्ति ? अरे तू मुक्ति कहाँ पायेगा ? इस संसार में मुक्ति नाम की कोई चीज कहीं हो भी ! स्वयं सृष्टिकर्ता सृष्टि का बंधन अपने ऊपर डालकर सबके निकट बँधे हुए हैं।"

इसलिये केवल वे लोग सामाजिक उत्तरदायित्व के बंधनों से कतराकर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नाम पर भाग निकलना चाहते हैं जिनके भीतर वयस्क अवस्था में भी बचकानी प्रवृत्तियाँ शेष रह गयी हों, जिनके यौवन का विकास अपरिपक्व और अपरिणत ही रह गया हो। वे बच्चों की तरह अनुशासन से भागकर अपने अंतर्भावों के रंगीन खिलौनों से सब समय खेलते ही रहना चाहते हैं और जीवन की कठोर यथार्थता का सामना पूरी ताकत से करने का साहस उनमें नहीं पाया जाता। ऐसे लोग अपनी हाथीदाँत की मीनार के भीतर सुरक्षित रहकर निर्विघ्न रूप से मीनाकारी के कार्यों में मग्न रहना चाहते हैं। जब बाहरी दुनिया की हलचलों से उस मीनार में धक्के लगते हैं और वह हिलने लगती है तब वे तिलमिला उठते हैं।

टेनीसन के 'कला-भवन' (पैलेस आफ आर्ट) के निर्माता की तरह तितलियों के रंगीन लोक में विचरने वाले ये विविध और 'विशुद्ध' कलात्मक सौन्दर्य-तत्त्वों के संग्राहक जीवन और जगत की कठोर और अप्रिय यथार्थता से दूर रहकर स्वयं अपने ही मधु में लिपटे रहना चाहते हैं। इस एकात्म कला-साधना का फल अनिवार्य रूप से वही होता है जिसका अनुभव टेनीसन के 'कला-भवन' के नायक को हुआ। उनकी स्वतन्त्र वैयक्तिकता अपने अंतर के एकांत शून्य के बीच में हाहाकार करने लगती है। उस सूनेपन को भरने के लिये जो विराट मानवीय सहानुभूति चाहिये उसका निपट अभाव उनमें रहता है और फलतः हाथीदाँत की मीनार की दीवार पर सिर पटकते रहने के सिवा उनके पास और कोई चारा नहीं रह जाता। बीच-बीच में अपने मन को दिलासा देने के लिये वे रवीन्द्रनाथ का 'अकेला चला चल !' (ऐकला चल रे !) शीर्षक गीत गाने लगते हैं---उसका गलत अर्थ लगाते हुए।

रवीन्द्रनाथ के उक्त गीत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला चले। उसका भाव यह है कि "यदि सामूहिक विकृतियों से गलित इस युग में तेरी यह पुकार कोई नहीं सुनना चाहता कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' तो तू अकेले ही यह नारा बराबर लगाता चल—तब तक कि जब तक संसार के सभी लोग इसका महत्त्व नहीं समझने लग जाते—क्योंकि वह दिन निश्चय ही आयेगा जब सभी को यही आवाज लगानी पड़ेगी। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। सामूहिक मानवीय कल्याण का एकमात्र पथ यही है।"

साहित्य और कला के क्षेत्र में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा सुस्पष्ट रूप से सबसे पहले उन्नीसवीं शती में उन फ्रांसीसी कलाकारों ने लगाया था जिन्होंने 'कला केवल कला के लिये' की आवाज उठायी थी; विक्तर कूजाँ, थियोफील गोतिये, गोंकूर बंधु, फ्लोबेर, वर्लेन, मोपासाँ, बोदेलेयर आदि। उन लोगों का कहना था कि कला की कोई उपयोगिता नहीं है। उपयोगिता का प्रत्येक विषय कुरूप और घिनौना होता है, जब कि कला का सौन्दर्य निरूपयोगिता के वातावरण में ही पूरी तरह निखर पाता है। गोतिये का यह कथन प्रसिद्ध है कि "किसी नगर में मुझे केवल उसकी इमारतों के कलात्मक सौन्दर्य के कारण ही दिलचस्पी रहती है। उन इमारतों के भीतर रहने वालों का जीवन भले ही अत्यन्त शोचनीय हो, और सारे नगर में भले ही पीड़ितों, शोषितों, अपराधियों, नंगों और भूखों की भरमार हो, मेरे लिये इस बात का कोई भी महत्व नहीं है। जब तक उन इमारतों की सौन्दर्य-शोभा का निरीक्षण करने में कोई आदमी मेरी हत्या ही न कर डाले, तब तक मैं केवल उसी पर अपनी आँखें गड़ाये रहूँगा।" यह बात पूँजीवादी सभ्यता के नये उभार के युग की है, जब व्यक्ति का मशीनीकरण वृहत् आर्थिक संगठनों द्वारा किया जाने लगा था।

व्यक्ति-स्वतन्त्रतावादी कलाकार की यह ऐकांतिक सौन्दर्य-साधना नीरो की कला-प्रियता से भिन्न नहीं है। उन लोगों के मत से, कलात्मक

सौन्दर्य की अनुभूति मन की आँखों में चित्र बनकर उभरनी चाहिये, फिर वह चाहे रात में आग की सहस्रों लपटों के बीच धधकते रहनेवाले नगर के विनाश का दृश्य ही क्यों न हो। 'द्वन्द्वरहित विशुद्ध रोमांच' का अनुभव ही कला का प्राण है।

वर्लेन का कहना था कि इस गलनशील युग की घृणित रूमानियत में ही विशुद्ध सौन्दर्य का परिपूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। "मुझे 'देका-दाँस' (गलनशीलता) यह शब्द बहुत प्यारा लगता है," वर्लेन एक जगह कहता है : "यह बैंजनी और सुनहरे रंगों में चमकता और झिलमिल करता हुआ एक अपूर्व सौन्दर्य-लोक का मेरे आगे उद्घाटित कर देता है। यह रूज और पौडर की रंगीनी, सर्कस के फुर्तीले खेल, हिंस्र जंगली जानवरों की उछल-कूद और सूक्ष्म भावानुभूति से रहित जातियों के भीतर दहकती रहनेवाली आग की लपटें—इन सब सुन्दर और मोहक कलात्मक उपकरणों से भरपूर लगता है—विशेषकर उस समय जब किसी आक्रामक शत्रु-सेना की दुन्दुभियाँ शहर के फाटक के पास बज रही हों।"

इस व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी कलाकार को शत्रु-सेना के आक्रमण की कल्पना में एक विचित्र 'कलात्मक' आनंद प्राप्त होता था। कला की सौंदर्यानुभूति को इस विकृत सीमा तक घसीट लाने वाले कलाकारों की अंतराकांक्षा कुछ ऐसी हुयी कि १८७० में सचमुच फ्रांस पर जर्मन सेनाओं ने धावा बोल दिया। कला को कला के लिये और गलनशीलता को गलनशीलता के लिये अपनाने वाले कवियों, साहित्य-मर्मज्ञों और कला-प्रेमियों ने अपनी विकृत अहंवादी रचनाओं के मुक्त प्रचार और प्रभाव के कारण अपने देश की प्राण-शक्ति को इस हद तक गलित और क्षयीभूत कर दिया था कि जर्मनों की नये जोश से मदमाती सेना ने बहुत जल्दी सारे फ्रांस पर कब्जा कर लिया। जब जर्मन सेना पैरिस के निकट पहुंची तब वर्लेन विकृत उल्लास से चमकती हुई आँखों से उस ओर देखता हुआ बोला था, "अब कुछ अच्छा संगीत सुनने में आयेगा!"

'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' को बढ़ावा देते चले जाइये, उसके विकास की कोई सीमा कहीं न पाइयेगा, 'कला केवल कला के लिये' और 'व्यक्ति केवल व्यक्ति के लिये' यह नारा जिस युग में प्रबल रूप धारण कर लेता है उस युग के कलाकार राष्ट्र के भीतर-बाहर की विनाशी शक्तियों का आह्वान जानकर या अनजाने करते हैं। उन्नीसवीं सदी के फ्रांस के गलनशील कलाकारों के अंतराह्वान के फलस्वरूप जब जर्मनों ने धावा बोल दिया तब से आने वाले विश्व-विनाशी महायुद्धों की परम्परा कायम हो गयी। उस प्रारंभिक युद्ध में विजय के फलस्वरूप जर्मन राष्ट्र जिस उन्मत्तता की स्थिति को पहुँच गया उसी का यह परिणाम था कि समग्र यूरोप पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से उसने १९१४ में प्रथम महायुद्ध छेड़ दिया। उस प्रथम महायुद्ध में बुरी तरह पराजित होने पर जो प्रतिक्रिया जर्मनों पर हुई उसने इस जाति के भीतर प्रति-हिंसा की भीषण ज्वालाएँ धधका दीं। हिटलर का आविर्भाव हुआ और फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध अपनी पूरी दानवीयता के साथ यूरोप की धरती पर चढ़ बैठा।

१९४० के फ्रांस में सार्त्र जैसे कलाकारों की तूती बोल रही थी, जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी की गलनशील फ्रांसीसी कला की परंपरा को इस हद तक आगे बढ़ा दिया था कि वे समाज के प्रति अपने दायित्व से भागकर जीवन को 'एक निरर्थक वासना' घोषित करने लगे थे। राष्ट्रीय और सामूहिक मानवीय स्वतंत्रता के प्रश्न को ठुकराकर वे लोग वैयक्तिक स्वतंत्रता के नारे को उच्छृङ्खलता की चरम सीमा तक पहुँचाने लगे थे। फल वही हुआ जो होना था। सात दिन के भीतर फ्रांस की जनता ने अपनी प्यारी 'पारी' (पैरिस) के कलाभवनों की रक्षा के लिये नात्सियों के हाथ आत्म-समर्पण करके अपना सारा राष्ट्र उन्हें सौंप दिया।

इन ज्वलंत दृष्टान्तों से शिक्षा लेने के बजाय आज हमारे राष्ट्र के तरुण कलाकार अपनी कवि-कल्पना प्रसूत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नारों से साहित्य के आकाश को गुंजा देना चाहते हैं और सामाजिक तथा

राष्ट्रीय दायित्व के प्रश्न को पृष्ठभूमि में छोड़ देने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। इन लक्षणों को मैं शुभ नहीं मानता—विशेषकर उस स्थिति में जबकि आज राष्ट्र के ऊपर वैसा ही खतरा मँडरा रहा है जैसा कि पिछले महायुद्ध में फ्रांस पर।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कोई बुरी चीज नहीं है वह व्यक्ति की सहज चेतना है। और यदि ठीक अनुपात में और समुचित परिवेश में उसे मान्यता दी जाय तो वह निश्चय ही वांछनीय है। स्वस्थ सामाजिक चेतना के साथ सापेक्षता में बंधी हुई वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से हितकारी है। क्योंकि सामाजिक अनुशासन और मर्यादा दुधारी तलवार है। उसके फलस्वरूप मनुष्य की जो सहज पशु-प्रवृत्तियां और आवेग दमित रह जाते हैं वे यदि कल्याणकारी पथों द्वारा परिचालित होकर परिष्कृत और उदात्त नहीं बन जाते तो वे विद्रोही होकर विकृतियों में परिणत हो जाते है। एक ओर पशु से मनुष्य बनने और मनुष्य से सभ्यतर मनुष्य बनने की प्रक्रिया में आदिम प्रवृत्तियों का संयमन और दमन (सामाजिक विधि-निषेधों द्वारा) अनिवार्यत: आवश्यक है। दूसरी ओर इस क्रिया में यह भयंकर खतरा भी निहित है कि वे दबी हुई वृत्तियां व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या समाज में मनोवैज्ञानिक विकृतियां उत्पन्न कर सकती हैं, और व्यक्ति की स्वतन्त्र और उच्छृंखल होने की सहज आदिम प्रवृत्ति को खुली छूट देकर समाज में अव्यवस्था और अत्याचार फैला सकती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय प्रगति का पथ क्षुरस्य धारा की तरह है। दोनों चरम-स्थितियों से बचने पर ही सामूहिक मानवीय कल्याण साधित हो सकता है। न सामाजिक अनुशासन निरपेक्ष है न वैयक्तिक स्वातन्त्र्य। मानवीय इतिहास में ऐसे युग अवसर आते रहे हैं जब सामाजिक अनुशासन की बागडोर तानाशाहों के हाथों में चली गयी है। ऐसी स्थिति में सामाजिक अनुशासन वरदान

न बनकर अभिशाप बन जाता है और तब व्यक्ति (अर्थात् व्यक्तियों) की आत्मचेतना और भीतर दबी हुई पीड़ा शत-शत धाराओं में बाहर फूट निकलने को व्याकुल हो उठती है। प्रारम्भ में मूक कराह और बाद में चीख-पुकार से वह सारे युग के आकाश को अपने सिर पर उठा लेती है। ऐसे ही युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नारा पूरे जोरों से बुलंद होने लगता है, और ऐसे ही युग में इस नारे से खतरे की संभावना भी सबसे अधिक रहती है। इसलिए आज हम ऐसे ही युग में निवास कर रहे हैं। इसलिए आज हर नारे के सम्बंध में सावधान रहने और उसके हर पहलू की पूरी छान-बीन करने की बहुत बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है।

आज दोनों शिविरों की तानाशाही समाज-व्यवस्था के आर्थिक तथा राजनीतिक अनुशासन से युगचेता साहित्यकार परेशान हैं। वे उससे विद्रोह करना चाहते हैं, फलतः वैयक्तिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता की आवाज़ उठा रहे हैं। यह विद्रोह बिलकुल स्वाभाविक है और यदि उसे स्वस्थ सामाजिक चेतना के दायरे से बद्ध करके युग-पीड़ित मानवता के सामूहिक कल्याण की समुचित दिशा की ओर नियोजित किया जायगा तो वह निश्चय ही मंगलमय सिद्ध हो सकता है। अन्यथा यह आशंका उसमें निहित है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वह दुर्दमनीय आकांक्षा कहीं निस्तंत्रता, उच्छृंखलता और यथेच्छाचार की नकारात्मक दिशाओं में भटक न जाय।

भावी साहित्य और संस्कृति

इधर कुछ वर्षों से देश में एक नयी जाग्रति की लहर उठी है, सन्देह नहीं। एक नूतन स्फूर्ति, देश के स्नायु-तन्तुओं में संचारित हुई है। पर इस उन्मीलन का स्वरूप मुख्यतः राजनीतिक है। यह आवश्यक अवश्य है, पर निगूढ़ शिक्षा और विशुद्ध संस्कृति से उसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। असल बात यह है कि इस समय समस्त संसार का चक्र ही इस गति और इस नियम से चल रहा है कि उसके निपीड़न से अनेक युगों की साधना से प्रतिष्ठित संस्कृति और साहित्य प्राणहीन, निस्पंद से हो गये हैं। यदि वर्तमान युग को राजनीतिक युग कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजनीति के बिना कोई भी सभ्य समाज किसी भी युग में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, इसमें सन्देह नहीं, पर यह युग स्वार्थ से भरी हुई अत्यन्त हलके ढंग की ओछी, पोपली राजनीति के तुच्छ धूम्रोद्‌गार से समस्त विश्व-प्रकृति को आच्छादित कर लेने की झूठी धमकी देता है। इस युग के कोलाहल से ऐसा भास होने लगता है जैसे मानव-जीवन का अन्तिम और श्रेष्ठतम आदर्श केवल राजनीति की स्वार्थ-पूर्ण खींचा-तानी में ही समाहित है। सामूहिक मानव के सच्चे कल्याण पर जीवन को निरंतर विकास की ओर गति देने वाले मूल आध्यात्मिक तत्वों पर अतीन्द्रिय रहस्यों पर मानवात्मा की चिरकालिक साधना पर से सभी देशों, सभी जातियों का विश्वास ही एक तरह से हट

गया है। यही कारण है कि विगत-महायुद्ध के बाद, संसार भर में अभी तक कोई ऐसी महत्वपूर्ण साहित्यिक अथवा दार्शनिक रचना नहीं निकली, जो मानव-मन, मनुष्य-जीवन की अन्तरतम साधना पर प्रकाश डालती हो।

ऊपर की भूमिका से मेरा आशय यह है कि हमारे राष्ट्र का भाग्य भी वर्तमान संसार की राजनीतिक जटिलता से सम्बन्धित है, इसलिये वह भी आभ्यन्तरिक संस्कृति की सम्पूर्ण उपेक्षा करके उसी आब-हवा में बह जाने के चिह्न प्रकट कर रहा है। ये लक्षण अच्छे नहीं। यदि राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ ही साथ समानान्तर रेखा में भीतरी संस्कृति का विकास, पूर्ण स्वाधीनता से न होने दिया जायगा, तो सुदूर भविष्य में किसी विशेष महत्वपूर्ण परिणाम में हम नहीं पहुँचेंगे, यह निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि हमारी भावी संस्कृति और साहित्य का विकास किस रूप में हो? मैं आप लोगों को कोई नया मार्ग, कोई नवीन आदर्श दिखाने का दुस्साहस नहीं कर सकता। हमारे पूर्वजों ने जिस उज्ज्वल प्रतिभापूर्ण जीवन का महत् आदर्श, जिस अमर संस्कृति का श्रेष्ठ निदर्शन हम लोगों के लिये छोड़ दिया है, उसी को फिर से सम्पूर्ण आत्मा से अपनाने का प्रस्ताव मैं आप लोगों के मनन के लिए उपस्थित करता हूँ। जिस प्रकार ग्रीक और रोमन युगों में दो अपूर्व सभ्यताओं की परिणति संसार ने देखी है, उसी प्रकार रामायण और महाभारत के युगों में भी भारतवर्ष में दो परिपूर्ण सभ्यताओं ने अपना अप्रतिहत रूप विश्व को दिखाया था। विशेषतः महाभारत-युग की बात मैं कहना चाहता हूँ। इस युग में भारतीय संस्कृति जिस परिपूर्णता को पहुँच गई थी, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक थी, इसमें वह युग वीरता का उतना नहीं, जितना ज्ञान और प्रतिभा का था। शक्तिपूर्ण और स्वस्थ ज्ञान को उस समय के वीरों ने प्रत्येक रूप में निःसंशय, द्विधारहित होकर अपनाया है। नीति, अनीति और दुर्नीति की किसी झिझक ने उनके आदर्श को

खोज में बाधा नहीं पहुँचायी। यही कारण है कि शक्ति और ज्ञान को उन्होंने चरमावस्था में पहुँचाया और प्रतिभा में जन्म लेकर प्रतिभा में ही वे विलीन हो गये।

महाभारत के वीर बाह्य जगत् में जीवन-भर राजनीति के चक्र में ही घूमते रहे, पर अंतर्जगत् के प्रति एक पल के लिए भी उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखायी। मैं इसी आदर्श के प्रति आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। राजनीतिक अवस्थाएं युग-युग में और आजकल तो वर्ष-वर्ष बल्कि मास-मास में बदलती रहती हैं, पर मानव-मन की संस्कृति का विकास-क्रम चिरंतन है।

महाभारत-युग की संस्कृति में क्या विशेषता थी? उसका अनुसरण किस रूप में हमें करना होगा? इसका उत्तर पाने के लिए हमें अत्यन्त निष्पक्ष भाव से प्रेरित होकर कठिन परिश्रमपूर्वक महाभारत का अध्ययन और मनन करना होगा। जिस प्रकार कोई इतिहासज्ञ ऐतिहासिक सत्य की खोज के लिए किसी विशेष संस्कार-द्वारा अन्ध न होकर निर्विकार हृदय से अध्ययन करता है, जिस प्रकार कोई कीट-तत्त्ववेत्ता बिना किसी प्रत्यक्ष लाभ की दृष्टि से, केवल विशुद्ध सत्य के ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर कीट-जगत के भीतर प्रवेश करता है, उसी प्रकार समस्त धार्मिक तथा नैतिक कुसंस्कारों को त्याग कर हमें अमिश्रित, निष्कलंक सत्य के अन्वेषण की कामना के उद्देश्य से महाभारत के गहन वन में प्रवेश करना होगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर आप देखेंगे कि वह युग कितना स्वाधीन, कैसा निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द था। उस युग के लोग विचार-स्वातन्त्र्य को सर्वोपरि महत्त्व देते थे। इस युग के 'रेजियेन्टेशन' की कोई कल्पना उस युग के लोग स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। 'फ्री वर्ल्ड'—मुक्त संसार—का वास्तविक आदर्श उसी युग में देखने को मिल सकता था, जब कि आज वह केवल एक नारा बनकर रह गया है। महाभारत युग में किसी भी व्यक्ति को इस बात की खुली छूट थी कि वह किसी

भी धार्मिक अथवा सामाजिक विषय पर मुक्त हृदय से अपना सुस्पष्ट मत व्यक्त कर सकता था और सबको सभी विषयों में समान स्वतंत्रता प्राप्त थी। आप क्या वेद-निन्दक हैं? आइये, आप इस कारण महाभारत के वीरों के समाज से कदापि बहिष्कृत नहीं हो सकते, यदि आप में कोई वास्तविक शक्ति वर्तमान है। आप क्या जारपुत्र हैं? कोई परवा की बात नहीं, आपकी आत्मा में यदि पराक्रम का एक भी बीज है, तो यहाँ सहर्ष ये लोग आपका स्वागत करेंगे। आप क्या जुआरी हैं? घबराइये मत, आपके हृदय में कोई सच्ची लगन है, तो ये लोग कदापि आपको केवल इसी एक कारण से दूषित नहीं समझेंगे। पांच पतियों के होते हुए भी इन्होंने द्रौपदी को सीता के समकक्ष स्थान दिया है, ये ऐसे आत्म-विश्वासी, शक्तिशाली महात्मागण हैं। बाह्याचार की दृष्टि से अनेक अक्षम्य दोषों के होते हुए भी इन्होंने समस्त संसार के मुख से यह स्वीकार कराया है कि पंच पाण्डव देवता-तुल्य प्रतिभाशाली पुरुष थे।

मैं महाभारत से आप लोगों को क्या शिक्षा लेने के लिए कहता हूँ? सत्य बोलो, प्राणियों पर दया करो, क्रोध का त्याग करो, व्यभिचार से अलग रहो, जीव-हित में लगे रहो, ये सब अत्यन्त साधारण, रात-दिन सामाजिक जीवन में लागू होते रहने वाले उपदेश आपको एक अत्यन्त तुच्छ स्कूल-पाठ्यपुस्तक में मिल सकते हैं। युग-विवर्तनकारी महाभारत-कार से आपको इन क्षुद्रातिक्षुद्र नीति-वाक्यों से लाख गुना अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की प्रत्याशा करनी चाहिए। महाभारत इन उपदेशों को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उक्त महाकाव्य में सर्वत्र समाज के बाह्याचार के नियमों की ध्वंसलीला ही दृष्टिगोचर होगी। सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्व प्रतिपादित किये हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है। संसार-भर का साहित्य और इतिहास छान डालिये। आपको कहीं भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलेगा, जिसमें किसी अत्यन्त उन्नत चरित्र तथा आदर्श-स्वरूप प्रमाणित की गई और मानी गयी स्त्री के

पांच पति हों। यह तथ्य यदि सत्य था, यदि वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से द्रौपदी के पांच पति थे, तो भी कोई डरपोक लेखक अपने काव्य में इस बात को गर्व के साथ प्रकट न करता, बल्कि छिपाता। यदि यह बात सत्य नहीं, एक रूपक-मात्र है, तो इससे कवि का साहस और भी अधिक दुर्जय होकर प्रकट होता है—वह एक ऐसी काल्पनिक बात को अपना आदर्श बना गया है जो साधारण नैतिक दृष्टि में अत्यन्त निन्दनीय है। पर वह तो लोकोत्तर पुरुषों का (देवताओं का नहीं) अगम्य चरित्र चित्रित करना चाहता था और साथ यह भी चाहता था कि साधारण जन-समाज भी लोकोत्तर महापुरुषों की बुद्धि के निकट तक पहुँच जाये। महाभारत से पता चलता है कि पराशर घोर व्यभिचारी थे, उनके पुत्र वेदव्यास परस्त्री-गामी थे और धृतराष्ट्र तथा पांडु अपने बाप के लड़के नहीं थे। वेदव्यास के वरेण्य पिता अंध कामुक थे। पाण्डव—हां, महाभारत के मुख्य नायक पांडव भी—अपने पिता के पुत्र नहीं थे, यद्यपि इस तथ्य को कवि ने रूपक के छल से किसी अंश तक छिपाने की चेष्टा की है। और पांडवों की श्रद्धेय माता कुन्ती कौमार्यावस्था में ही एक पुत्र प्रसव कर चुकी थीं। (कर्ण की उत्पत्ति सूर्य के समान तेजस्वी किसी लोकोत्तर पुरुष से हुई थी, यह निश्चित है। कवि ने उसे स्वयं सूर्य बतलाकर इस घटना पर गम्भीरता का पर्दा डाला है, ताकि कर्ण जैसे वीर का जन्मोत्सव कोई हँसी में न उड़ाये।)

मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि इन सब बातों को आप तर्क के किस ब्रह्मास्त्र से उड़ा देना चाहते हैं? मैं प्रार्थना करूँगा कि इन्हें यथारूप स्वीकार कीजिये। इनसे यही पता चलता है कि या तो वह युग घोर बर्बर-युग था या ज्ञान की उन्नततम सीढ़ी पर चढ़ चुका था। धन्य है उस कवि के साहस को, जिसने कोई बात न छिपाई, क्योंकि वह विश्वात्मा के अन्तरतम केन्द्र में पहुँच चुका था, और जिसने केन्द्र पकड़ लिया हो, उसे वृत्त की बाहिरी परिधि से क्या सरोकार! बल्कि परिधि के बाहर जाने में ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। महाभारत के महात्माओं

का लक्ष्य प्रकृति के बाह्यरूप को भेदकर उसके अन्तस्तल पर केन्द्रित था, इसलिये वे केवल कर्तव्यवश होकर बाह्य नियमों का पालन करते थे। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह प्रतिभा का युग था। बुद्धि जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तब वह सृष्टि की भी अपूर्व लीला दिखाती है और संहार की भी। सृजन में उसे जो आनन्द प्राप्त होता है, विनाश में भी वह उसी का अनुभव करती है। महाभारत के प्रकांड युद्धकांड ने कर्म और ज्ञान के जिस सूक्ष्म सामंजस्यात्मक तत्त्व का सृजन किया, वह अब तक अज्ञात रूप में हमारे रक्तकणों में संचारित हो रहा है। और संहार तथा विनाश का जो रूप उसने दिखाया, उसे आज तक यह देश नहीं भूल पाया।

अपने ही रक्त से सम्बन्धित लोगों की हत्या का उपदेश कृष्ण के अतिरिक्त और किस धर्मोपदेशक ने दिया है? नीति, दया, हिंसा तथा अहिंसा की दृष्टि से इसकी सफाई देना मूर्खता का द्योतक होगा। मैं कह चुका हूँ कि वह विश्वात्मा के अत्यन्त गूढ़तम प्रदेश में दृष्टि डालने वाली प्रतिभा का भी ध्वंसोपदेश है। वेदों की निन्दा आप इस बीसवीं शताब्दी में भी करने का दम नहीं भर सकते; पर गीताकार को देखिये, वह कैसे छूमन्तर से उन्हें तुच्छ कर देता है। किसी सहृदय किंतु जटिल मानसिक-स्थिति-सम्पन्न जुआरी का चरित्र-चित्रण करने का साहस इस अनीति के युग में भी आपको नहीं होगा, क्योंकि धर्मात्मा आलोचक अथवा नीतिनिष्ठ सम्पादकगण आपको संत्रस्त करेंगे, पर महाभारतकार का आत्मबल देखिये। वह एक ऐसे जुआरी को धर्मराज की पदवी देता है, जो अपनी स्त्री तक को हार गया। बात यह है कि उसका निष्कलुष हृदय बाह्य दोषों को न देखकर अपने चरित-नायक की भीतरी प्रतिभा को परखता है। लोकोत्तर पुरुष का काल्पनिक आदर्श भी महाभारत के प्रत्यक्ष सत्य चरित्रों के अगम्य रहस्य के आगे निस्तेज पड़ जाता है। पाश्चात्य जगत अभी तक कृष्ण के युग को असभ्य युग समझता है और हम लोग केवल अन्ध-भक्ति से उस युग को श्रेष्ठ मानते

हैं—उसकी विशेषताओं की परख द्वारा नहीं, दोनों भ्रामरी माया के फेर में हैं। इतिहासकारों के कथनानुसार भारत युद्ध को ४००० वर्ष व्यतीत हो चुके। क्या उसका मर्म समझने के लिये चार हजार वर्ष और बीतेंगे? आश्चर्य नहीं।

ज्ञान और शक्ति किसी भी रूप में हों उन्हें ग्रहण करो, यही उपदेश इस समय हम कृष्ण-युग से ले सकते हैं। तभी वास्तविक संस्कृति के पास हम पहुँच सकेंगे। पाश्चात्य जगत् आज बुद्धि और शक्ति में हमसे कई गुना अधिक श्रेष्ठ इसलिये है कि उसने अनजान में इस मूल रहस्य को पकड़ा है। साधारण सामाजिक दृष्टि से प्रकट में निन्द्यवृत्ति में भी वहाँ के मनीषियों को यदि यथार्थ शक्ति का आभास मिला है, तो उन्होंने उसी दम उसे अपनाया है, पर हम लोग अपनी दुर्बल धर्म-नीति का पचड़ा लेकर पग-पग में झिझक, बात-बात में द्विविधा और असमंजस के फेर में पड़े हैं। साहित्य को ही लीजिये। हम लोग चाहते हैं कि उसमें भी हमें धार्मिक या राजनीतिक उपदेश मिलें। पर ग्रीक ट्रेजेडियों में और शेक्सपीयर के श्रेष्ठ नाटकों में व्यभिचार, घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला के अतिरिक्त हम क्या पाते हैं? तब क्यों संसार ने ऐसी रचनाओं को सिर-माथे चढ़ाया है? असल बात यह है कि उक्त वृत्तियों के मूल में—मनुष्य की सामूहिक अवचेतना में—एक ऐसी शक्ति छिपी है, जिसे साधारण मनुष्य देख नहीं पाता, पर कवि या दार्शनिक उस सुप्त शक्ति को जागरित करके पाठकों की आत्मा में एक अपूर्व बल संचारित कर देता है।

प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार सोफाक्लीज की सर्वश्रेष्ठ रचना 'ईडियुस' में एक ऐसे दिल दहलाने वाले व्यभिचार का विकट वर्णन है कि उसका स्पष्ट उल्लेख करने से अनेक पाठक मुझे फांसी देने का प्रस्ताव करेंगे। स्वयं मेरी लेखनी का साहस नहीं होता, पर इस निन्दनीय व्यभिचार के नायक के उच्छलित भावावेग का क्रन्दन ऐसी खूबी से नाटककार ने दिखाया है कि उसके प्रति समवेदना स्वतः उमड़ उठती है। इस

व्यभिचार से जिस कन्या की उत्पत्ति हुई है, उसके चरित्र के माहात्म्य से सारा यूरोपीय साहित्य आप्लुत है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में पाप के मथन से जिस प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेग प्रवाहित हुआ उससे सभी पाश्चात्य काव्यमर्मज्ञ परिचित हैं। इन नाटकों में केवल हत्या, प्रतिहिंसा और घृणा का विस्फूर्जन और गर्जन हुंकृत हुआ है। फिर भी इनमें अगाध रस का अनन्त स्रोत कहाँ से उमड़ा? कारण वही है जो मैं ऊपर बता चुका हूँ। निखिल प्राण की रहस्यमयी शक्ति उनमें छिपी है। पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है, और पुण्य भी यदि दुर्बल है तो वह तुच्छ है। प्रसिद्ध रूसी कवि पुश्किन ने कहा है: "अधम सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है जो हमारी आत्मा को उन्नत, जाग्रत करता है।"

साधारण मनुष्य तुच्छ पाप और तुच्छ पुण्य को तौलकर अपना जीवन-यापन करता है, इसलिये उसके लिए पाप से बचकर चलना बहुत् आवश्यक है। ऐसे संसारी पुरुष को कभी कोई पाप में फँसने का उपदेश नहीं दे सकता, पर प्रचंड प्रतिभाशाली पुरुष सांसारिक भले-बुरे से संबन्धित होकर भी उससे बिल्कुल परे है, इसलिए वह तथाकथित वृहद पाप को ही अपने उन्नत आदर्श का सम्बल स्वरूप बनाकर महा प्रस्थान की ओर दौड़ता है। सांसारिक पुरुष प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत् के सुख-दुख को लेकर ही व्यस्त रहता है, पर प्रतिभाशाली व्यक्ति इन बन्धनों को नहीं मानना चाहता और इनसे बहुत गहरे में सामूहिक मानव की मूलगत अनुभूतियों का मर्म समझने में मग्न रहता है। राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति इन इने-गिने लब्ध-प्रतिभ मनीषियों के द्वारा ही प्रतिष्ठित होती है, इसलिये उन्हीं के लिए मेरा यह लेख है। विशेष करके उन नवीन-हृदय, तरुण महात्माओं के प्रति मैं निवेदन कर रहा हूँ, जिनकी अन्तर्निहित प्रतिभा भविष्य में राष्ट्र को आलोकित करेगी।

प्रतिभा अत्यन्त रहस्यमयी है। वह जब 'दुर्बलता' भी प्रकट करना

चाहती है, तो वह वज्र से भी अधिक सबल, समुद्र के गर्जन से भी अधिक प्रलयंकर होकर व्यक्त होती है। शेक्सपीयर के नाटक, रूसो की स्वीकारोक्तियां, डास्टाएव्सकी के उपन्यास इसके दृष्टान्त-स्वरूप हैं। गेटे का 'फौस्ट' भी अपनी दुर्बलता के कारण अमर शक्तिशाली प्रतीत होता है। इस 'दुर्बलता' का वर्णन फाउस्ट ने अपनी दो आत्माओं से सम्बन्धित प्रसिद्ध 'स्वगत-भाषण' में अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक किया है। लेख के बढ़ जाने के भय से इसका अनुवाद मैं यहां पर नहीं दे सकता। अपनी 'दुर्बलता' का सहारा लेकर बायरन ने 'चाइल्ड हेरल्ड' जैसे वीर-काव्य की रचना की थी।

बायरन का उल्लेख करते हुए मुझे स्वामी रामतीर्थ की एक बात याद आयी है। उन्होंने कहा है कि बाह्य दुर्बलताओं से कभी मनुष्य की वास्तविक प्रकृति पर विचार नहीं करना चाहिये। इसके दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने बायरन को लिया है। सभी साहित्य-रसिकों को मालूम होगा कि इंगलैंड में बायरन के ऊपर एक अत्यन्त बीभत्स लांछन लगाया गया था, जिसका निराकरण अब भी नहीं हुआ है, और जो पाश्चात्य नीतिनिष्ठों के हृदय में अब भी विभीषिका उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में एक भारतीय महात्मा का कहना है कि हमें बायरन को इस बाह्यनीति की दृष्टि से नही देखना होगा, उसकी प्रतिभा इसके परे थी! 'डान जुआन' के लेखक के प्रति यह उदार भाव एक वास्तविक वेदान्ती के ही योग्य है।

इन सब बातों से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि राष्ट्र के प्राणों में यदि उच्चतम संस्कृति के बीज बोना चाहें तो हमें पाप-पुण्य, अन्धकार-आलोक सभी तत्त्वों को अपनाना होगा। सब प्रकार के भावों को ग्रहण करके उनमें से ज्ञान, प्राण और शक्ति को शोषना होगा। 'कल्चर' शब्द कृषि और कर्षण का पर्यायी है। सभी जानते हैं कि अच्छी कृषि के लिए सारवान खाद की आवश्यकता होती है। और खाद ऐसी चीज़ है, जो अधिकांशतः कोई निर्मल परिष्कृत वस्तु नहीं होती। इसलिए मैं

कहता हूँ कि केवल निर्बल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा अनुर्वरता की परिचायक है। हमारी सस्कृति सृष्टि-रूपिणी होनी चाहिये, बंध्या नहीं। यदि 'गन्दगी' में ही हमें ज्ञान, प्राण और शक्ति का बोध होता है, तो निःसंशय होकर उसकी जड़ खोदनी होगी। अपनी पुनीत नीति को बाह्य स्पर्श से अछूना रखने के लिये अत्यन्त सावधान होकर मिट्टी के स्पर्श से बच-बचकर चलने की चेष्टा अत्यन्त हास्यापद और जड़ मोहात्मक है। हमारी वर्तमान जड़ता का कारण ही यही है। हमें निर्द्वन्द्व, द्विविधा-हीन, निःसंशय होकर ज्ञान के समस्त उद्गमों को खोदना होगा। "संशयात्मा विनश्यति"।

पंत की कविता में त्रिविध चेतना

यदि वैश्लेषिक दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में चेतना के तीन रूप सामने आते हैं—(१) जाग्रत चेतना, (२) स्वप्न-चेतना तथा (३) सुषुप्त चेतना। पहली प्रकार की चेतना को हम अंग्रेजी में 'कांशस' दूसरी को 'अनकांशस' अथवा 'सब कांशस' और तीसरी को 'सुपर कांशस' कह सकते हैं। पंत जी ने अपनी नयी कविताओं में जहाँ कहीं भी केवल 'चेतना' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उनका आशय या तो अवचेतना से रहा है या ऊर्ध्वचेतना से। जाग्रत अवस्था की चेतना को उन्होंने कहीं-कहीं पर 'वहिर्चेतना' कहकर उल्लिखित किया है और कहीं 'चेतन मन'। पर उसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि वह जानते हैं कि बाहरी चेतना की अपने-आप में कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि उसकी प्रत्येक गति अवचेतना द्वारा ही परिचालित होती रहती है—भले ही आज का वहिर्वर्ती मानव इस वज्र सत्य को स्वीकार करने में कुंठित होता हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि बाहरी चेतना का कुछ भी आपेक्षिक महत्त्व नहीं है। बाहरी (जाग्रत) चेतना की जो अप्रिय अनुभूतियां भीतर की ओर दबाई जाती हैं वे अन्तररस में परिणत होकर रसवती नदियों की अखिल धाराओं में अव-चेतना के अगाध सागर की निरंतर वृद्धि करती रहती हैं। पर जिस

प्रकार सागर का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा वह अपने-आप में पूर्ण है और नदियों के जल से प्रत्यक्ष रूप में न घटता है और न बढ़ता है, उसी प्रकार बहिश्चेतना के जो तत्त्व अंतर्मन में परिणत होते जाते हैं उनसे अवचेतना के अगाध सागर में कोई विशेष अंतर नहीं आता। इसके विपरीत जिस प्रकार सागर से उत्थित होने के बाद सावन के जलवर्षी बादल नदियों में बाढ़ ला देते हैं उसी प्रकार अवचेतना सागर से उठने वाली घनघोर भाव-घटाएं भी चेतना-मन में बाढ़ ला देती हैं। अर्थात् अवचेतना पर चेतन मन का जो प्रभाव पड़ता है वह समुद्र में बूंद के समान है, पर चेतन मन पर अवचेतना से उठने वाली तूफानी तरंगों का जो प्रभाव पड़ता है वह उसे पूर्ण रूप से छा सकता है।

यह ठीक है कि मानवीय तन, मन और आत्मा का एक-दूसरे से अविच्छिन्न सम्बन्ध है और उनमें से किसी एक को एकदम अलग कर देने से मूल अस्तित्व-केन्द्र से असन्तुलन, असामंजस्य और अपूर्णता आ जाती है। तन के ही विकास की सूक्ष्म परिणति मन है और मन के ही विकास की सूक्ष्मतम परिणति आत्मा है। इसलिये कवि ने कहा था :—

मेरा मन तन बन जाता है,
तन का मन फिर कटकर
छंटकर
कन-कन ऊपर
उठ पाता है!
मेरा मन तन बन जाता है!

+ + +

तन के मन में कहीं अंतरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित,
मन जलता है,
मन में तन में रण चलता है,

चेतन अवचेत नित नव
परिवर्तन में ढलता है !

('छायापट')

उपनिषद्कार ने कहा है कि मथन किए हुए अन्नमय रस का सूक्ष्म ऊर्ध्व भाग मन है, उसी प्रकार मथित मनोमय रस का सूक्ष्म ऊर्ध्व भाग प्राण है और प्राणमय रस के मथन से निकला हुआ सूक्ष्म सार तेजोमय आत्मा है। अर्थात् (आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में) शारीरिक विकास की सूक्ष्मतम परिणत्ति चेतनमन में होती है, चेतन मन का अलक्षित सूक्ष्म तत्त्व अवचेतन मन में परिणत हो जाता है, और अवचेतन मन का सूक्ष्मतम सार है ऊर्ध्वचेतन मन।

पर यह होने पर भी इस अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार किए बिना निस्तार नहीं हो सकता कि अस्तित्व का मूल केन्द्र विश्व-जनीय अवचेतना में ही निहित है।

यह विश्वजनीय अवचेतना ही उपनिषदों का प्राण-सागर है (उप-निषदों में प्राण को जलमय कहा गया है) इसी प्राणतत्त्व को उप-निषद्कारों ने सृष्टि का केन्द्रीय तत्व बताया है। यह ठीक है कि मन अक्सर इस केन्द्रीय आकर्षण को त्याग कर मुक्त होने के लिए बाहर का रास्ता खोजता रहता है, पर बाहर केवल भटकर रह जाता है, और फिर-फिर अन्तर्प्राणों की ओर ही उसे लौटना पड़ता है। उप-निषद्कार ने इस सम्बन्ध में कहा है कि—"जिस प्रकार शकुनि पक्षी सूत्र में बंधा हुआ होने पर ढील देने से अनेक दिशाओं की ओर उड़ता चला जाता है, पर बाद में फिर बधन में ही आश्रय पाता है, उसी प्रकार मन भी नाना दिशाओं की ओर धावित होता है, विभिन्न स्थितियों में संस्थान पाता है, पर अत में प्राणों का ही आश्रयात्मक बंधन ग्रहण करने को बाध्य होता है।" (स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बधनमेवोपश्रयते एवमेव

खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवो-पश्रयते प्राणबंधनं हि सौम्य इति।)

अर्थात् सचेत मन नाना बाहरी चक्रों में उलझते रहने पर भी अंत में लौट-लौट कर अपने मूल आश्रय—अंतर्प्राणों (अवचेतना लोक) का ही आश्रय पकड़ने को बाध्य होता है। अवचेतना ही समस्त मान-सिक तथा आध्यात्मिक स्थितियों का मूल बंधन है।

मानवीय चेतना का विस्तार कितना व्यापक और उसकी गहराई कितनी अतलव्यापिनी है, इसका उल्लेख मैं पहले भी कर चुका हूँ। वास्तव में इस अवचेतना की अगाधता का अनुमान लगा सकना असम्भव है। यह सामूहिक अंतरानुभूति-लोक ही वह जगत् है जहाँ से सृष्टि की मूल संचालिका शक्तियाँ निरन्तर नये-नये रूपों में विकसित होती चली जाती हैं, इसी के भीतर वे अगाध स्वप्न निहित हैं जो इन्द्रधनुषी रंगों से बहिश्चेतना अथवा बाह्य जगत् को प्रतिपल छा रही है, इसी के भीतर महाकाल का वह अपार तमस् व्याप्त है जो युग-युगों से जीवन के अनन्त, अगाध तथा अज्ञेय रहस्यों को अपने भीतर छिपाए हुए है; इसी के भीतर वह असीम, अकलुष प्रकाश-पुंज वर्तमान है, जो कालांधकार का व्यवधान चीरकर समय-समय पर मानव के जाग्रत चेतना-लोक में 'स्वर्णिम किरणों का शर' मारता रहता है। यही अवचेतना (अंतरप्रेरणा) उस ऊर्ध्व चेतना की मूल रूपिणी है जो असाधारण प्रेरणा के क्षणों में स्थिर-शांत चिद्गगन में निस्तरंग रूप से प्रभासित होती हुई अनुभूत होती है। यही वह आत्मा रूपी दिव्य ज्योतिर्मयी उषा है जिसके संबंध में वैदिक द्रष्टाओं ने कहा है:—

> उषः प्रतीची भुवनानि विश्वा
> ऊर्ध्वा तिष्ठसि अमृतस्य केतुः।
> समानं अर्थं चरणीयमाना
> चक्रमिव नव्यसि आ ववृत्स्व॥

(हे अमृतात्मा-रूपी सूर्य की चिर-प्रतीक उषा ! तुम पूर्व में उदित होकर, समस्त भुवनों को दिव्य ज्योति से आलोकित कर, सदा उसी की लक्ष्य की ओर संचरण करती रहती हो। तुम चक्र की तरह नित्य नये रूप में हमारे आगे बार-बार प्रकट होती रहो।)

और यही वह वैदिक विष्णु है जो अन्तर की अतलव्यापी अंध-गिरि-गुहा में घोर बर्बर, हिंसक, पशु-आत्मा के रूप में विचरता हुआ अपने भीम पराक्रम के प्रदर्शन से विश्व-मानव को युग-युग में हतप्रभ करता रहता है :—

प्रतत् विष्णुः स्तवने वीर्येण मृगः न भीमः कुचरः गिरिअस्थाः।
यस्य ऊरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिऽक्षयन्ति भुवनानि विश्वाः॥

("विष्णु की महिमा का स्तवन इसलिए किया जाता है कि अपने भीम पराक्रम के कारण वह एक भयावने, हिंसक और गिरि-गुहा-भेदी बर्बर पशु की तरह है, और इसीलिए भी कि उसके तीन पगों में विश्व के समस्त भुवन स्थित हैं।)

वैदिक (पौराणिक नहीं) विष्णु देवता के पूर्वोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन ऋषि अपनी सहज बुद्धि से इस सत्य का अनुभव कर सके थे कि अतर्लोक का चिद्प्रकाशमय स्वरूप जितना ही उज्ज्वल है उसका छाया-रूप उतना ही घनांधकारमय है, जिसमें दानवीय पशु-वृत्तियां अत्यन्त भीम वेग से, उच्छृंखल आवेग से बंधन-हीन होने के लिए नित्य छटपटाती रहती हैं और केवल इसी अतल अंधकारमय नरक की घोर यथार्थ मिट्टी पर ही उस ठोस स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है; जो युग-युगों के मानवीय जीवन की चिर प्रगति की अन्तिम परिणति है। याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि के प्रश्न का उत्तर देते हुए, 'अन्तर्यामी' की विस्तृत व्याख्या करते हुए और उसके विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उसके अन्धकारमय रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—"जो अन्धकार में स्थित है और उसके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं अंधकार भी परि-

चित नहीं रहता, जिसका शरीर ही अंधकार है, जो भीतर से अंधकार पर शासन करता है वही तुम्हारी आत्मा है; वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।" इस अंधकार की मूलगत मिट्टी के आधार की अवज्ञा करके, निराधार काल्पनिक मानवीय स्वर्ग के जो हवाई किले कोरे आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा कलाकारों अथवा राजनीतिक क्रांतियों के अधिनेताओं द्वारा शून्य पर खड़े किए जाते हैं वे ताश के महलों की तरह ढह कर ही रहते हैं। मेरे उपन्यास 'प्रेत और छाया' की शोषिता नायिका मंजरी उपन्यास के मनोविकार-ग्रस्त, विद्वेषक और प्रतिहिंसक नायक को जीवन के इसी मूलगत सत्य को समझाने का प्रयत्न करती है कि मानवीय अवचेतना के अतल अंधतमस-लोक में युग-युग से जो पाशविक प्रवत्तियां, जो यथा कथित नारकीय विकृति-मूलक संस्कार जड़ जमाये हुए हैं उनकी उपेक्षा करने अथवा उनसे बच-बचकर चलने से काम नहीं चलेगा, और यदि मानवीय जीवन में वास्तविक तथा स्थायी स्वर्ग की स्थापना करनी है तो अवचेतन लोक में निहित पशु-संस्कारों को खोदकर, उन्हें जाग्रतचेतना लोक में प्रकाश में लाकर उनके यथार्थ रूप को समझकर उनके सुसंस्करण द्वारा, उस मूलगत खादयुक्त मिट्टी के आधार पर ही उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी।

मंजरी कहती है—"मेरे मन में यह विश्वास जम चुका है कि नरक की जमीन पर ही स्वर्ग की स्थापना हो सकती है। नरक से घबराकर भाग निकलने से ही यदि कोई यह समझे कि वह नारकीय यातनाओं से छुट्टी पा जाएगा तो इससे बड़ी भूल जीवन में हो नहीं सकती। क्या तुम यह समझते हो कि नरक बाहरी दुनिया की कोई चीज़ है? गलत बात है। अपने भीतर नज़र डालो, वहाँ तुम्हारे ही शब्दों में भयंकर कुंभीपाक भभक रहा है, और रौरव के विषैले कीड़े कुलबुला रहे हैं। बाहर तो केवल उस भीतरी नरक की अंधेरी छाया व्यक्ति को डराना चाहती है। मासूम बच्चों की तरह कतरा कर असली चीज को अपने भीतर वहन करता हुआ अगर कोई आदमी

सातवें स्वर्ग में भी जावे तो वह निश्चय ही उस स्वर्ग को भी अपने भीतर के पाप-जगत की छाया से घोर अन्धकारमय बना देगा। जो स्वर्ग नरक की यथार्थता पर स्थापित नहीं है वह झूठा है, वह आत्मकामियों के संकीर्ण मन की मरीचिका है। नरक ज्वलंत यथार्थ है। जो व्यक्ति इस यथार्थ को यथार्थवादी उपायों द्वारा ही स्वर्ग का रूप देने में तत्पर होगा केवल वही कल्याण को अपना सकता है।"

संसार में आज तक कितने ही ऐसे आदर्शवादी महानेता उत्पन्न हो चुके हैं जिन्होंने मानव-जीवन में स्वर्ग की स्थापना का स्वप्न देखा है। उनमें से किसी ने अप्रत्यक्ष आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक लोक में स्वर्ग प्रतिष्ठित करना चाहा है, और किसी ने विभिन्न संघर्ष-विघर्षों में उलझे हुए प्रत्यक्ष राजनीतिक जगत में। पर प्रायः उन सबको इसमें असफलता मिली है। जिसका प्रधान कारण मैं यही मानता हूँ कि उन सबने उन मूल तत्त्वों की उपेक्षा की जिनके समुचित ज्ञान तथा उदात्तीकरण द्वारा ही सच्चे स्वर्ग का निर्माण हो सकता है न कि जिनकी अवज्ञा, उपेक्षा अथवा वर्जन द्वारा। पंत जी की 'नरक में स्वर्ग' शीर्षक कविता से यह स्पष्ट है कि वह इस महान सत्य के प्रति उदासीन नहीं हैं।

पंत जी की इस कविता में जिस रूपक का वर्णन किया गया है उसकी मूल नायिका सुधा है और उपनायिका क्षुधा। कविता में सुधा को एक राजकुमारी के रूप में चित्रित किया गया है। और क्षुधा को एक साधारण ग्राम्य-बालिका के रूप में। पर दोनों अत्यन्त घनिष्ट सखियों के रूप में एक दूसरे से हिली हुई थीं। और दोनों के प्राणों का अपूर्व परिणय अत्यन्त मधुर लगता है।

> पंकजिनी थी क्षुधा, पंक में खिली दैन्य के निश्चय,
> स्वर्ण-किरण भी सुधा धरा की रज पर उतरी सहृदय।
> दोनों के प्राणों का परिणय था जन के हित सुखमय,
> स्वर्ग धरा का मधुर मिलन हो ज्यों स्रष्टा का आशय।
>
> (नरक में स्वर्ग)

यह सुधा वास्तव में मानव के स्वर्गिक सुख-स्वप्नों की प्रतीक है। और क्षुधा है यथार्थ जीवन के कठोर संघर्षों के बीच में पोषिता अतृप्ताकांक्षा। जीवन के स्तर को न छूने वाले स्वप्न-महल में रहने वाली सुधा अपनी समृद्धि में, अपने आप में पूर्ण रहने को बाध्य है। पर उसकी सार्थकता तभी हो सकती है जब वह अपनी चिर-अभिलषित क्षुधा को उसी के स्तर पर उतरकर अपनावे। और क्षुधा के जीवन-विकास की सार्थक परिणति इसमें है कि वह अपनी स्वप्नाकांक्षित सुधा को केवल स्वप्न-क्रीड़ा-लोक में ही छायावत् प्राप्त न करे बल्कि यथार्थ सत्तावत्, भौतिक रूप में प्राप्त करे। पर जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में ऐसा हो नहीं पाता, और स्वर्ग की राजकुमारी सुधा और पृथ्वी की चिराकांक्षा-रूपिणी क्षुधा केवल स्वप्नोद्यान के फूलों के बीच में ही मिल पाती हैं। यथार्थ जीवन की वास्तविक सत्तात्मक पारस्परिक स्पर्शिता से दोनों वंचित रहती हैं।

फल यह होता है कि चिर-वर्धित आकांक्षा अपने भीतर के तथा आस-पास के नारकीय जीवन के वैपरीत्य के स्थित सुधा के मिट्टी के संग स्पर्श से अलग, ऊपर उठे हुए राजभवन के प्रति विद्रोहिणी हो उठती है। मूर्तिमान, हिंसा, द्वेष तथा काम-रूपी राजकुमार अजित उस स्वाभाविक विद्रोह को दमन करके पान का बीड़ा उठाता है। सुधा यह सब दृश्य देखकर रह नहीं पाती और अपने प्रति आकांक्षित जन-मन के आगे अपने को न्यौछावर करने को तत्पर हो जाती है। इतने में उसका सहोदर अजित उसे मार डालता है। जिस स्वर्गीय सुधा के हित यह सब विद्रोह था वही समाप्त हो गयी। क्षुधा ने रोते हुए अपनी मृता स्वप्न-सहचरी को गले लगा लिया। अजित पश्चात्ताप-वश आत्महत्या करने को उद्यत हुआ, पर क्षुधा ने उसकी कायरता को धिक्कार कर उसके हाथ से हिंसक अस्त्र छीन लिया। अजित गिड़गिड़ाकर क्षुधा से बोला—

सुधा आज से बहन क्षुधा, तुम
अजित विजित, जनगण का अनुचर।

इस प्रकार स्वप्नों की स्वर्ग-सुधा की समाप्ति के बाद क्षुधा ने अपने ही भीतर की, अथवा आस-पास के कठोर यथार्थ जीवन की मिट्टी के भीतर से सुधा को प्राप्त किया। अपने से बाहर के स्वर्ग पर स्थित सुधा से प्रीति लगाना, उसे प्राप्त करने दौड़ता आकाश-कुसुम की कामना से अशांत तथा लालायित होने के बराबर था। काम-रूप अजित भी समझ गया कि अपनी वैभव-रूपी बहन सुधा को वह जिस घोर अहंवादी मोह तथा ईर्ष्यावश जनमत से अलग, राजभवन की चहारदीवारी के भीतर युग-युगांत के लिए आबद्ध रखना चाहता था वह अत्यन्त अस्वाभाविक तथा प्रकृति-विरुद्ध रूढ़िगत मनोभाव था। वह यह भी समझ गया कि ऐसी एकांत-पोषिता, जनस्पर्श-रहिता सुधा की मृत्यु अनिवार्य थी, और उसका वास्तविक (आध्यात्मिक) पुनर्जन्म तभी हो सकता है जब वह निखिल मानव-समाज की पूर्व परिचालिका, विविध शक्ति क्षुधा (दैहिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक के भीतर प्रविष्ट करे और उसी क्षुधा के, स्वाभाविक विकास, तथा मथन और ऊर्ध्वपातन द्वारा सुसंस्कृत रूप धारण करे।

नरक में स्वर्ग की स्थापना—से मेरा आशय ठीक यही रहा है।

पंत जी ने अंत में स्पष्ट कर दिया है कि यह एक रूपक-कथा मात्र है, और इस रूपक के भीतर जो आदर्श निहित हैं उसे मानस के वास्तविक जगत् में चरितार्थ होना शेष है—

कथामात्र है, यह कल्पित, उपचेतन से अतिरंजित।
कहीं नहीं है राजकुमारी सुधा धरा पर जीवित।
मनुजोचित विधि से न सभ्यता आज हो रही निर्मित,
संस्कृत रे हम शब्दमात्र को, विजयी हममें प्राकृत।

* * *

अभी नहीं चेतन मानव से भू-जीवन मर्यादित,
अभी प्रकृति की तमस् शक्ति से मनुज नियति अनुशासित।

(नरक में स्वर्ग)

जब तक मानव पूर्वोक्त महारूपक के मर्म को ग्रहण नहीं कर पाता, जब तक सत्ताधारियों का अहंवादी, आत्मा-कामी वर्ग राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्तिसत्ता द्वारा जीवन-सुधा को जन-मन से अलग रखने के लिए कटिबद्ध रहेगा, अथवा जब तक स्वयं जनमत उस रक्तांकित तथा अप्राकृतिक सुधा को ही वास्तविक सुधा समझकर उसे प्राप्त करने की उद्दाम लालसा से प्रतिहिंसक रूप धारण किये रहेगा, (बजाय इस उद्योग के लिए सचेष्ट रहने के कि अपनी सहज क्षुधा के भीतर से ही, उसकी स्वाभाविक मथन—विकास—क्रिया द्वारा ही वास्तविक सुधा को प्राप्त करे ।)तब तक उसका कल्याण संभव नहीं है । क्षुधा ही जब तक अपने ही भीतर निहित मर्मगत सत्य के उदात्तीकरण द्वारा सुधा का रूप धारण नहीं करती तब तक न सत्ताधारियों का वर्ग विजयी हो सकता है न जनवर्ग ।

रहीम और उनकी कविता

स्कूली जीवन में रहीम का यह दोहा पढ़ा था—

अमी पियावत मान बिनु
'रहिमन' हमहिं न सुहाय।
प्रेम सहित मरिबो भलो,
जो विष देय बुलाय ।।

तब इस दोहे का मर्म उतना नहीं समझा था, पर इसका जादू अज्ञात में भीतर-ही-भीतर काम करने लगा था। अक्सर, समय-असमय वह दोहा याद आता रहता; किसी मायामयी छाया की तरह मन को चारों ओर से जैसे घेरे रहता। जब कुछ बड़ा हुआ तब एक दिन सहसा ये दो पंक्तियां अपनी रहस्यमयता का पर्दा उघाड़कर अपने सीधे-सच्चे रूप में मेरे आगे मूर्तिमान-सी खड़ी होकर अपूर्व रस से छलछलाती आंखों से देखती हुई मेरे अन्तर की आंखों से आँखें मिलाती रहीं।

उस दिन मैंने पहली बार अनुभव किया कि प्रतिदिन के जीवन में बरते जाने योग्य साधारण नीति का यह उपदेशक वास्तव में कितना बड़ा कवि भी था। उसने केवल कवित्वपूर्ण सूक्तियाँ ही नहीं लिखीं, वरन् वह अपने जीवन के प्रतिदिन के अनुभवों में भी पूरा कवि था।

प्रेम सहित मरिबो भलो जो विष देय बुलाय !

तनिक इस अत्यन्त सहज, सरल उक्ति के मर्म में पैठने का कष्ट कीजिए। प्रेम से दिए गए विष के प्याले को कई गुना अधिक प्रेम से

पीने की आकुलता केवल एक सच्चे और सहृदय कवि में ही सम्भव हो सकती है !

रहीम सामंती युग के कवि थे और स्वयं एक बहुत बड़े और प्रतिष्ठित सामन्त थे। पर अपने सामन्ती ठाठ-बाट में भी उन्होंने जन-साधारण के जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों के प्रति कभी उपेक्षा नहीं दिखाई। दीन जनों की पीड़ा उन्हें निरन्तर इस तरह कचोटती रहती थी जैसे वह उनकी अपनी ही पीड़ा हो। अपने नीति-सम्बन्धी दोहों में पिसी हुई असहाय जनता को स्मरण किया है—

सर सूखे पछी उड़ें, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहं जाहिं॥
रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तरवारि॥

इस प्रकार रहीम की सतसई दीन-हीन जनों के प्रति आंतरिक सहृदयता और सच्ची सम-अनुभूति के दोहों से भरी पड़ी है। उनमें केवल एक सामन्ती सहानुभूति का भाव वर्तमान हो, ऐसा नहीं है। लगता है जैसे ऐसे दोहे रहीम के अन्तरानुभव की मार्मिकता से और वास्तविक जीवन की अनुभूतियों की चोट से निकले हैं।

अकबरी शासन में रहीम एक बहुत बड़े सम्मान्य पद पर प्रतिष्ठित होते हुए भी दीन-हीन जनों की व्यथा के भार से बराबर दबे रहे, यह वास्तव में एक विचित्र रहस्य की-सी बात लगती है। ऐसी तीव्र अनुभूति के लिए दो कारण होने चाहिएँ। एक तो स्वभाव और संस्कार से ही प्राप्त गहरी, व्यापक और उदार अनुभूतिशीलता, और दूसरे स्वयं अपने जीवन में भी समय की कुटिल, कठोर चपेटों का अनुभव। इन दोनों कारणों के मिश्रण के फलस्वरूप हम आज रहीम की कल्पना एक महान कवि और साथ ही एक महान् व्यक्ति के रूप में सहज ही कर पाते हैं।

इतिहास सुस्पष्ट रूप से नहीं बताता कि रहीम को स्वयं अपने जीवन में किस प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। केवल

इतना ही आभास मिलता है कि अकबर की मृत्यु के बाद जहांगीर के दरबार में उनकी कोई इज्जत नहीं रह गई थी और उन्हें एक विकट राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार बनना पड़ा था। कुछ लोगों का यहां तक अनुमान है कि जिन लोगों के हाथों में जहांगीर-कालीन शासन का सूत्र था, उन्होंने रहीम पर राजद्रोह का झूठमूठ का अभियोग लगाकर, जहांगीर को इस बात के लिए प्रेरित किया था कि उन्हें कैद कर लिया जाए, और फलतः उन्हें एक कारागार में डाल दिया गया। वहां उन्हें ऐसी-ऐसी यातनाएं सहनी पड़ीं कि किसी साधारण सहन-शक्ति वाले आदमी की मृत्यु ही हो जाती। पर रहीम स्वभाव से ही दानवीय शक्तियों पर उच्च मानवीय शक्तियों की विजय के प्रति आस्थावान् थे और उनका आध्यात्मिक धरातल एकदम ठोस था। इसलिए वह राजसी सुखभोग के बाद इस प्रकार के कठोर और मारक अनुभवों से तनिक भी विचलित न हुए, बल्कि तपे हुए सोने की तरह उनके व्यक्तित्व में उत्तरोत्तर अधिक निखार आता चला गया।

कारागार से जब किसी प्रकार मुक्त हुए, तब उनके जीवन का अगला मार्ग एकदम निश्चित हो चुका था। वह समस्त सांसारिक भार की अनुभूति को तिलांजलि दे कर मुक्त मानस से, भगवत्-प्रेम की पुकार से भावाकुल होकर परिव्राजक का जीवन व्यतीत करने लगे। सब से पहले वह चित्रकूट पहुँचे। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व छिपाए न छिपता था। मनसबदारी के युग में उनकी दानशीलता सारे देश में ख्यात हो चुकी थी। इसलिए याचक-वर्ग उनके नए वेश में उन्हें पहचानने में नहीं चूक सकता था। याचकों का खुफिया विभाग बड़ा संगठित होता है। अतएव उस निपट अकिंचनता की हालत में भी याचक उन्हें घेरने लगे। वह यह दोहा पढ़कर उन लोगों से अपना पिंड छुड़ाते थे—

ये रहीम दर-दर फिरें, मांगि मधुकरी खांहि।
यारो, यारी छोड़ दो, वे रहीम अब नांहि॥

चित्रकूट में रहीम को बड़ी शान्ति मिली। चित्रकूट का महत्व समझते उन्हें देर न लगी और तब उन्होंने यह दोहा रचा—

चित्रकूट में रमि रहे, 'रहिमन' अवध नरेस।
जा घर विपदा परति है, सो आवत इहि देस॥

रहीम के परवर्ती जीवन के सम्बन्ध में चाहे और कोई ऐतिहासिक प्रमाण मिलें या न मिलें, पर ऊपर के दोहे से इतनी बात तो निश्चित रूप से जानी जा सकती है कि किसी एक बहुत बड़ी विपत्ति की मार उन पर पड़ी थी, और उस महाविपत्ति का कारण सम्भवत: उनके विरुद्ध चलाया गया वही राजनीतिक षड्यंत्र था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। राम भी राजनीतिक षडयंत्र का शिकार बनने पर ही चित्रकूट गए थे, अतएव रहीम को उनकी याद आना स्वाभाविक था। यहां पर यह बात भी ध्यान देते योग्य है कि कालिदास का विरही यक्ष भी निर्वासित हो कर चित्रकूट के आस-पास ही कहीं शान्ति की खोज में आ कर बसा था। कालिदास के यक्ष का अर्थ है स्वय कालिदास क्योंकि इतना तो निश्चित है कि कालिदास ने स्वयं अपनी विरहानुभूति से प्रेरित हो कर अमर काव्य मेघदूत की रचना की थी, और यह भी सुस्पष्ट है कि उस काव्य की प्रेरणा उन्हें अपने रामगिरि-निवास काल में हुई थी; फिर वह रामगिरि चाहे चित्रकूट हो चाहे रामटेक की पहाड़ी। मुझे चित्रकूट की ही सम्भावना अधिक लगती है, क्योंकि कालिदास भी रहीम की ही तरह राम के अनन्य भक्त थे और उनका सबसे बड़ा काव्य रघुवंश मूलत: राम की कीर्ति पर ही आधारित है। सीता वाल्मीकि की तरह ही कालिदास की कल्पना की आदर्श नारी थी, और उस जनक-तनया के स्नान से जिस स्थान का जल पवित्र हो चुका था, वहीं के तरुओं की छाया में कुछ समय बिताने की बात विरही कालिदास को जंची होगी।

इसलिए जब रहीम ने यह पद रचा कि "जा पर विपदा परत है, सो आवत इहि देस" तब उनके मन में अवध-नरेश राम के अलावा विरही कालिदास की भी स्मृति जगी हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

अपने जीवन के दरबारी युग की औपचारिकता का भार इस सहृदय कवि-प्राण मनीषी की अनुभूतिशील आत्मा में कैसी कुटिल कठोरता से पड़ा होगा, इसका अनुमान उस सोरठे से किया जा सकता है जिसकी रचना उन्होंने अपने भार-मुक्त हृदय की सहज आनन्दात्मक अनुभूति के साथ की थी—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।

इस सोरठे की रचना के सम्बन्ध में एक किंवदंती बहुत प्रचलित है। कहा जाता है कि स्वभाव से ही कर्ण के समान दानी होने के कारण अपनी मनसबदारी के युग में रहीम ने दान करते-करते अपने पास कुछ भी बचाकर नही रखा। और जब राजनीतिक षड्यंत्र के फलस्वरूप उन की बची-खुची सम्पत्ति भी उनसे छिन गई, तब एक मौका ऐसा भी आया जब उन्हें किसी भडभूजे के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। एक दिन कोई व्यक्ति, जो उनकी पूर्वस्थिति से परिचित था, उधर से निकला। उसने रहीम की वह दशा देखी और प्रश्न के रूप में यह पद सुनाया—

जा के सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस ?

सुनते ही रहीम ने तत्काल उत्तर दिया—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।

जीवन के समस्त कृत्रिम और अनुभूत भारों को भाड़ में झोंकने से किसी महाप्राण को ही इस प्रकार के सहज आंतरिक उल्लास का अनुभव हो सकता है। इस किंवदंती में बाहरी तथ्य कितना है, यह प्रश्न गौण है। अन्तरानुभूति का सत्य ऊपरी तथ्य से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और वह अन्तर सत्य उक्त सोरठे के अक्षर-अक्षर में बोल रहा है। किंवदंतियां यों ही नही बनती। कोई भी किंवदंती चाहे प्रकट में कैसी ही ऊटपटांग और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वहीन क्यों न लगे, उसका आधार-विन्दु किसी न किसी मूलभूत सत्य से निश्चित रूप से सम्बन्धित रहता है। रहीम का एक-एक दोहा इस बात की गवाही देता है कि वह केवल सांसारिक दृष्टि से ही नही, आत्मिक दृष्टि से भी सम्पत्ति

और झूठे मान-सम्बन्धी समस्त बंधनों और भारों से मुक्त हो चुके थे। परवर्ती जीवन में वित्त-हानि का तनिक भी दुःख उन्हें नहीं रह गया था, क्योंकि वह जानते थे कि उससे वास्तविक हित की हानि न होकर लाभ ही हो रहा है—

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहचानि।
सोच नहीं वित हानि को, जो न होय हित-हानि॥

प्रत्येक परिस्थिति में उन्होंने अपने व्यक्तित्व के सहज विकास में कभी कोई कमी नहीं आने दी। सम्पत्ति के युग में भी उन्होंने अपने दरबारी टीमटाम और आडम्बर को इस हद तक कभी न बढ़ने दिया कि जिससे उनके अन्तर्व्यक्तित्व की गति ही अवरुद्ध हो जाती। यही कारण था कि वह आर्थिक भार को कभी अपने ऊपर इस हद तक हावी नहीं होने देते थे कि वह स्वयं उन्हीं को दबा दे।

रहिमन अति न कीजिए, गहि रहिए निज कानि।
सहिजन अति फूलै तऊ, डार-पात की हानि॥

यही कारण था कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही संचय के विरोधी रहे और अक्सर दानी बनकर भार-मुक्त होने का प्रयत्न करते रहे। इसीलिए सम्पत्ति के बाद विपत्ति का युग जब आया तब अत्यन्त सहज भाव से, परिपूर्ण आनन्द के साथ उन्होंने उस नई स्थिति को ग्रहण कर लिया।

फिर भी अपने चारों ओर की कठोर, संघर्षमय वास्तविकता के हाहाकारपूर्ण वातावरण के प्रति एकदम उपेक्षा का भाव बनाए रखना उनके समान सहृदय व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो पाता था। अबोध, अज्ञान और पशु-जीवन बिताने वाले याचकों की प्रत्यक्ष भौतिक अभाव-जनित पीड़ा की अवज्ञा वह किसी भी हालत में नहीं कर पाते थे। कुछ ऐसी किंवदंतियां प्रचलित हैं जिनसे यह पता चलता है कि रहीम को अपनी अकिंचनावस्था में याचकों के लिए याचना करनी पड़ती थी—स्वयं तो वह फल-मूल खाकर ही गुजारा कर लेते थे; पर याचना चाहे

किसी के लिए और किसी उद्देश्य से क्यों न की गई हो, वह है तो याचना ही। और रहीम का स्वाभिमानी मन याचक की छुटाई का अनुभव पग-पग पर किए बिना नहीं रह पाता था—

रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हूं को भयो, बावन अंगुर गात॥

* * *

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ मांगन जाहिं।

* * *

केहि की प्रभुता नहि घटी पर घर गए रहीम।

दुःख की पराकाष्ठा का अनुभव उन्हें तब होता था जब दीन-दुखियों के लिए किसी सम्पत्तिशाली व्यक्ति से कुछ मांगने पर भी उन्हें निराश होना पड़ता था। इसी निराशा की मनःस्थिति में उन्होंने एक बार लिखा था—

रहिमन अब वे बिरछ कहं, जिन की छांह गंभीर।
बागन बिच-बिच देखिनत, सेहुँड कंज करीर॥

रहीम का परवर्ती जीवन जिस युग में बीत रहा था, उसकी संकीर्णता और हीनता कभी-कभी उनके हृदय की सागरवत् गम्भीरता को भी विचलित कर देती थी। उनके मुँह से बरबस इस तरह की बात निकल आती थी—

अब रहीम मुसकिल परी गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम॥

रहीम की सहज सरल, सूक्तियां कालिदास की सूक्तियों की तरह ही प्रीति-मधुर रस से भरपूर हैं। उनका नीति-सम्बन्धी प्रत्येक दोहा केवल एक शुष्क उपदेशोक्ति नहीं है, वह जीवन की किसी गहरी अनुभूति के रस से भरी एक मंजरी है। अतएव अपने सरल उपदेशों तथा सुन्दर सूक्तियों में भी वह बहुत बड़े सिद्ध होते हैं।

अपनी 'बरवै नायिका भेद' नामक रचना में तो रहीम विशुद्ध

कवि—केवल कवि—के रूप में हमारे सामने आते हैं। भाव, भाषा, रस, माधुर्य, सभी दृष्टियों से यह रचना उत्तम काव्य की कोटि में आती है। इस काव्य के एक-एक छंद में ऐसी अपूर्व सरल सुकुमारता पाई जाती है कि सहृदय और रसिक पाठक को ऐसा लगने लगता है जैसे उसकी मार्मिकता को उसी सौकुमार्य से ग्रहण न करने पर वह लोनी लज्जावती लता की तरह लजाकर रह जाएगी। उदाहरण के लिए लीजिए—

लहरत लहर लहरिया, लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया, बिधुरे बार॥

* * *

बालम अस मन मिलयऊँ, जस पय पानि।
हंसिनि भई सवतिया, लइ बिलगानि॥

* * *

सुभग बिछाइ पलंगिया, अंग सिंगार।
चितवनि चौंकि तरुनिया, दै दृग-द्वार॥

* * *

सखियन कीन सिंगरवा, रचि बहु-भाँति।
हेरति नैन अरसिया, मुरि मुसकाति॥

'बरवै नायिका भेद' लिखने की प्रेरणा रहीम को कैसे हुई; इस सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार रहीम का एक नौकर कुछ दिनों की छुट्टी लेकर अपने घर—देहात में—गया। उसका ब्याह कुछ ही समय पहले हुआ था और अपनी नवेली वधू से मिलने के लिए वह अत्यन्त व्याकुल था। मिलन होने पर, नव-विवाहिता दम्पति के छुट्टी के सारे दिन रंगरेलियों में बीत गए। कुछ पता ही न लगने पाया। पर जीवन के रसभरे क्षणों के बीच में कठोर वास्तविकता सब समय अपना मुँह बाए सहृदयों की घात में बैठी रहती है। अतएव यथार्थ ने एक दिन प्रेमियों के दरवाजे पर क्रूर कराघात किया। दोनों स्वप्न से जागे। जब पति ने पत्नी की स्नेह-भीनी, प्रेम-रस से गीली

आँखों की अनुनय और करुण, आर्त वचनों द्वारा किए गए आग्रह की अवज्ञा करते हुए कहा कि यदि उसे जीना है तो उसे पत्नी को छोड़कर नौकरी पर जाना ही होगा, तब सहसा उस नवेली को एक बात सूझी। उसने एक बरवै लिखकर एक लिफाफे में उसे बन्द करके अपने पति से कहा : "तुम जाना चाहते हो, तो जाओ, मैं कर ही क्या सकती हूँ। केवल इतना-सा निवेदन है कि वहाँ पहुँचते ही यह लिफाफा अपने मालिक को दे देना।"

पति राज़ी हो गया और उसने रहीम के पास पहुँचने पर वह लिफाफा उनके हाथ थमा दिया। लिफाफा खोलने पर रहीम ने पढ़ा—

प्रेम प्रीति को बिरवा, चल्यो लगाय।
सींचन की सुधि लीज्यो, मुरझि न जाय।

रस-गत-प्राण रहीम इस बरवै को पढ़कर भाव-विभोर हो गए। वह उसके भीतर निहित सुकुमार संकेत समझ गए और उन्होंने नौकर को बहुत-सा धन देकर सदा के लिए घर पर रहने की छुट्टी दे दी।

और तब उन्हें स्वयं उसी छंद और उसी शैली में एक छोटा-सा काव्य लिखने की प्रेरणा हुई।

किंवदन्ती राई-रत्ती के हिसाब से सत्य है या नहीं, इस झगड़े में पड़ने से कोई लाभ नहीं है। पर इस किंवदन्ती के रूपक के भीतर जो मार्मिक सत्य निहित है, वह सहृदय कवि और उदार-प्राण रहीम के सुन्दर, सरस और मोहक व्यक्तित्व पर सच्चा प्रकाश डालता है।

बाण-चरित

समस्त संस्कृत साहित्य में बाण की प्रतिभा का स्वरूप एक निराले ही रूप में हमारे सामने आता है। संस्कृत की गद्य शैली के काव्यात्मक विकास और उत्कर्ष को चरम शिखर तक पहुँचाकर जो दो रचनाएँ यह विचित्र व्यक्तित्व-संपन्न कवि छोड़ गया है, वे तब तक अमर रहेंगी जब तक संस्कृत-साहित्य का लेश भी वर्तमान रहेगा। आश्चर्य केवल इस बात पर होता है कि जिन रचनाओं ने बाणभट्ट की कीर्ति को युगों के लिये अमर कर दिया वे दोनों अधूरी ही रह गयीं। 'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी'—संस्कृत साहित्य की इन दो महाविभूतियों में से एक को भी उनका रचयिता पूरा करके नहीं छोड़ गया। 'कादंबरी' को उसके पुत्र ने पूरा किया, पर 'हर्षचरित' आज तक ज्यों का त्यों, अधूरा ही, पड़ा हुआ है।

बाण की केवल प्रतिभा ही निराली नहीं थी, उसका व्यक्तित्व भी विचित्र और बहुरूपी था। उसकी रचनाओं से अपरिचित पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि 'हर्ष-चरित' में उसने हर्ष के चरित का वर्णन अधूरा ही छोड़ने पर भी स्वयं अपने चरित का पूरा और विस्तृत वर्णन किया है। व्यक्तिगत रूप से मेरा तो यह मत है कि हर्ष-चरित लिखना बाण के लिये केवल एक विवशता-जनित बहाना था। वास्तव में उसे स्वयं अपना चरित लिखकर अपने को हर्ष से भी महान् और

उसकी अपेक्षा अधिक स्थायी कीर्ति का भाजन सिद्ध करने की प्रेरणा हुई।। वर्तमान लेख में मैं अपने इसी मत को प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा।

'हर्षचरित' के प्रथम दो (बल्कि सवा दो) दीर्घ 'उच्छ्वासों' में बाण ने अपने चरित पर जो यथार्थवादी प्रकाश डाला है वह कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में हमें किसी भी महान् कवि के जीवन के संबंध में कोई भी निश्चित तथ्य प्राप्त नहीं होता। जीवन-चरित की बात तो दूर रही किसी कवि के निश्चित समय तक का ठीक-ठीक पता खोजी लोग नहीं लगा पाये हैं। पर बाण के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। हमें केवल बाण के जीवन-काल के संबंध में ही निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है, बल्कि उसके स्वभाव, चरित और घुमक्कड़ी जीवन के संबंध में भी बहुत-सी निश्चित बातों का पता है। बाण अपना आत्म-चरित लिखकर उसे अपनी काव्य-प्रतिभा का एक अनिवार्य अंग बनाकर छोड़ गया है।

बाण के आत्म-चरित से हमें यह सूचना मिलती है कि उसका जन्म सोन नदी के प्राय: तट पर स्थित प्रीतिकूट नामक गाँव में सुप्रसिद्ध वात्स्यायन वंश के अत्यन्त कुलीन, विद्वान् और सुसंस्कृत ब्राह्मण कुल में हुआ। अपने कुल वालों की अनेक विशेषताएं बताते हुए बाण ने लिखा है : "वे लोग धीर बुद्धि, प्रसन्नप्रकृति, विकृतियों से रहित, समस्त दर्शनों के भीतर से उठने वाली शंकाओं के समाधान-कर्ता, सभी ग्रंथों की अर्थ-ग्रंथियों का उद्घाटन करने वाले, कवि, वाग्मी, सरस भाषण में रुचि रखने वाले, सुरुचिपूर्ण परिहास की सूक्ष्म व्यंजनाओं के ज्ञाता, नृत्य-गीत-वादित्र आदि ललित कलाओं के मर्मज्ञ, इतिहास संबंधी ज्ञान की प्रबल तृष्णा रखने वाले, सहृदय, सत्यानुरक्ति से पवित्र, सौहार्द से द्रवित, क्षमाशील, तेजस्वी, कामजित, असाधारण तथा उत्कृष्ट ब्राह्मण थे।"

ऐसे उच्चतम संस्कृति-संपन्न कुल में उत्पन्न चित्रभानु नामक द्विज-श्रेष्ठ की पत्नी राजदेवी की कोख में बाण ने जन्म लिया। उसकी माता

उसकी शैशवावस्था में ही परलोक सिधार गई। उसके पिता ने उसका लालन-पालन माता की तरह ही किया। साथ ही पिता के कर्तव्यों का भी पूरा पालन करते हुए उन्होंने उपनयनादि संस्कार विधिपूर्वक करके उसे वेद-वेदांगों का पाठ बड़े यत्न से करवाया। दुर्भाग्य का ऐसा चक्र बाण पर चला कि जब वह चौदह वर्ष का हुआ तब उसके पिता की अकाल मृत्यु हो गयी।

पिता की मृत्यु के बाद बाण कुछ समय तक महान शोक से संतप्त रहा। उसके बाद धीरे-धीरे जब शोक कम हुआ तब उसके भीतर एक अजीब-सी प्रतिक्रिया हुई। अनुशासन-हीनता के कारण उसकी प्रकृति में स्वतन्त्रता-जनित चपलता आ गयी। स्वभाव से ही कुतूहल-प्रिय होने के कारण उसके मन में देशान्तर-भ्रमण और व्यापक पृष्ठभूमि में मानव-चरित्र के अध्ययन की प्रवृत्ति ने इस तरह जोर मारा "जैसे किसी पर प्रबल ग्रह-दशा सवार हुई हो" और वह 'इत्वर' (आवारा या घुमक्कड़) बन गया।

बाण ने 'हर्षचरित' अपने परिणत वय में लिखा था। तब उसने अपने नवयौवन की उस चपल और कौतूहली प्रवृत्ति की खिल्ली स्वयं उड़ाते हुए लिखा है कि इस प्रकार वह 'महान उपहास्यता' को प्राप्त हुआ। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसके घर में ब्रह्मणोचित वैभव की तनिक भी कमी नहीं थी और घर पर ही विद्याध्ययन की भी पूरी सुविधा थी। इसलिये वह अपने दूसरे साथियों की तरह न तो आजीविका की खोज के लिये 'इत्वर' बना था, और न विद्या-प्राप्ति के लिये ही वरन् विशुद्ध कौतुक (या कुतूहल) की भावना से प्रेरित होकर, मौज और मस्ती के लिये, और साथ ही यथार्थ जीवन के विविध रूपों का स्वानुभूत ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह भ्रमण के लिये निकल पड़ा।

उस युग में देश-विदेश-भ्रमण कोई आसान काम नहीं था। आज के शौकीन यायावरों की तरह उस युग के 'इत्वरों' को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी कि रेल, जहाज या विमान का टिकट कटाकर जहाँ चाहें आराम

से और अति अल्प समय में पहुँच जावें। या तो पैदल चलना पड़ता था या बैलगाड़ियों पर। राजा-रईसों के लिये अधिक से अधिक यह सुविधा थी कि वे रथों पर तेज घोड़े जोतकर यात्रा करते थे। किन्तु तिस पर भी उन्हें पग-पग पर विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। फिर साधारण यात्रियों की तो बात ही क्या है। उनके लिये तो सारी यात्रा खतरों से भरी रहती। इसलिये लोग प्रायः पूरा दल बनाकर यात्रा किया करते थे।

बाण जिस दल के साथ देशाटन के लिये निकला था उसमें ये लोग शामिल थे : (१) बाण का परम मित्र 'भाषा-कवि' ईशान, जो स्पष्ट ही तात्कालिक जन-प्रचलित भाषा (अपभ्रंश) में कविता करता होगा; (२) 'वर्णकवि' वेणीभारत, जो लोक गीतों की रचना करता होगा; (३) प्राकृत भाषा का रचनाकार कुलपुत्र वायुविकार; (४) वारबाण और (५) दासबाण नाम के दो विद्वान्; (६) अनंगबाण और (७) सूचीबाण नाम के बंदीजन; (८) पुस्तकवाचक सुदृष्टि; (९) लेखक गोविंदक; (१०) कथक (कहानियां सुनाने वाला) जयसेन; (११) चित्रकार वीरवर्मा; (१२) चामीकर नामक सुनार (कलाद); (१३) हीरे का काम करने वाला हैरिक सिंधुबेण; (१४) पुस्तकृत् (पुस्तकों के 'कवरों', मिट्टी के खिलौनों आदि पर चित्रकारी का काम करने वाला) कुमारदत्त; (१५) मार्दंगिक (मृदंग बजाने में निपुण) जीमूत; वाशिक (वंशी बजाने वाले) (१६) मधुकर और (१७) पारावतः; (१८) दार्दुरिक (दर्दुर नामक वाद्य बजाने वाला) दामोदर; (१९) सोमिल और (२०) ग्रहादित्य नाम के गायक; (२१) संगीत का अध्यापक दर्दुरक; (२२) लासकयुवा (लास-नृत्य में कुशल) तांडम्विक; (२३) शैलालियुवा (भरत नाट्य का विशेषज्ञ) शिखंडक; (२४) शैव मतानुयायी वक्रघोण; (२५) क्षपणक वीरदेव; (२६) पारशरी (भिक्षु विशेष) सुमति; (२७) मस्करी (परिव्राजक) ताम्रचूड़; (२८) वैद्यक मंदारक, (२९) जांगुलिक (विषवैद्य) मयूरक; (३०) मंत्र-साधक (टोना-टोटका जानने वाला) कराल; (३१) धातुवाद-

विद् (रासायनिक ?) विहंगम (३२) असुरविवरव्यसनी (भूगर्भ-प्रवेश द्वारा धातुओं को निकालने की कला में सिद्ध) लोहिताक्ष; (३३) आक्षिक (पाँसों द्वारा खेले जाने वाले जुए की कला में दक्ष) आखंडव; (३४) कितव (पेशेवर धूर्त) भीमक; (३५) ऐन्द्रजालिक चकोराक्ष; (३६) चंद्रसेन और (३७) मातृषेण नाम के दो पारशद (वर्णशंकर) भाई; (३८) रुद्र और (३६) नारायण नाम के दो प्रणयीजन; (४०) तमोली चंडक।

इनके अतिरिक्त ये चार स्त्रियां भी बाण के सहयात्रियों के दल में थीं; (१) नर्तकी हरिणिका; (२) बौद्धभिक्षुणी (काप्यायनिका) चक्रवाकिका; (३) सैरंध्री कुरंगिका और (४) केरलिका नाम की संवाहिका।

इस लम्बी सूची को देने से हमारा आशय केवल यह बताने का है कि बाण का सहयात्रीदल समाज के विविध अंगों के प्रतिनिधियों से किस प्रकार पूर्ण था। कवियों से लेकर पेशेवर धूर्त तक सभी उस विचित्र दल में बराबरी की हैसियत से शामिल थे और एक-दूसरे के समानाधिकारी संगी थे।

यहाँ पर फिर एक बार इस बात की याद दिला देने में कोई हानि न होगी कि बाण ने यह लंबी निरुद्देश्य यात्रा तब की थी जब वह नितान्त नवयुवक था और जब पठन-पाठन, अध्ययन और मनन की सबसे उपयुक्त अवस्था थी। इस अवस्था में किसी गुरु के निकट नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने के बजाय उसे घुमक्कड़ बनने की धुन सवार हुई। उस युग की प्रथा और परिस्थितियों पर विचार करते हुए बाण की यह प्रवृत्ति एक विचित्र विशेषता से पूर्ण लगती है। आधुनिक युग के श्रेष्ठ उपन्यासकार शरतचन्द्र के आवारा जीवन से उस युग के महान् उपन्यासकार बाणभट्ट के जीवन में हम आश्चर्यजनक साम्य पाते हैं।

यह ठीक है कि बाण ने अपने दीर्घ प्रवास-काल में थोड़े-थोड़े समय के लिये अनेक गुरुकुलों में भरती होकर वहाँ के अध्ययन और अध्यापन की विधि का अनुभव प्राप्त किया था, पर नियमित रूप से एक भी

गुरुकुल में जमकर अध्ययन नहीं किया था। यह केवल कुतूहल निवारण था। जिस कुतूहल से प्रेरित होकर उसने विविध राजकुलों के जीवन का निरीक्षण किया था ('वीक्षमाणः') उसी कौतुक-बुद्धि की प्रेरणा से उसने विभिन्न प्रदेशों के गुरुकुलों का केवल 'सेवन' किया था ('सेवमानः')। 'हर्षचरित' के भाष्यकार शंकर का भी यही मत है। और सच बात तो यह थी कि वह उन गतानुगतिक शिक्षण-प्रथा के अनुयायी गुरुकुलों से सीखता भी क्या जबकि समग्र श्रेष्ठ ग्रंथों के भीतर निहित निगूढ़ अर्थों की ग्रंथियों को खोलने और कठिन गुत्थियों को सुलझाने (उद्‌घाटित समग्र-ग्रंथार्थग्रंथयः) में समर्थ 'असाधारण' द्विजोत्तमों के वंश में जन्म लेने के कारण वह चौदह वर्ष की अवस्था में ही समस्त वेद-वेदाङ्गों, दर्शनों और काव्य-शास्त्रों में पारंगत हो चुका था! वह तमाशबीन नवयुवक स्तानक उन पिष्ट-पेषणी कला के आचार्यों को स्वयं ज्ञान की बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें सिखाने में सक्षम था, जिनकी बुद्धि मौलिक उत्पादन की प्रतिभा से एकदम रहित थी। इसलिए गुरुकुलों की अपेक्षा उसने गोष्ठियों को अधिक महत्त्व दिया, और वहाँ मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों, कवियों और गुणियों के संपर्क में आकर अपने ज्ञान के पहले ही से भरे भण्डार को और अधिक भरा।

पर यदि बाण केवल विद्वानों और कवियों के ही संसर्ग में अपना जीवन बिता देता और व्यापक जन-जीवन के संपर्क से अपने को वंचित रखता तो वह महान द्रष्टा होने के साथ ही छोटी से छोटी बात पर अधिक से अधिक महत्त्व आरोपित करने वाला कथाकार और सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को बारीक से बारीक कूँची से अंकित करने वाला शब्द-चित्र-लेखक न बन पाता, जिसका परिचय हमें 'कादंबरी' और 'हर्ष-चरित' में मिलता है। एक युग ऐसा भी था जब कवियों, कलाकारों और विद्वानों की अपेक्षा असाहित्यिक जनता के बीच में बाण के जीवन का अधिक समय बीता। शरत्‌चन्द्र की तरह ही अपने आवारागर्दी के

जीवन से बाण ने अपनी आश्चर्यमयी काव्यात्मक प्रतिभा को खोया नहीं, बल्कि उसे और अधिक विकसित, पुष्ट और परिपक्व बनाया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाण भट्ट के इसी आवारागर्दी के जीवन के युग को अपने एक उपन्यास* का कल्पनात्मक आधार बनाया है, यद्यपि उनकी यह कल्पना बहुत 'फेन्टेस्टिक' और 'रहस्य-रोमांच' से पूर्ण है और सहज अनुमान से दूर जा पड़ती है, तथापि वह बाण के विचित्र व्यक्तित्व के एक पहलू पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालती है।

[२]

हर्ष के साथ बाण के प्रथम मिलन की कथा भी बहुत रोचक है, जिसका विस्तृत वर्णन बाण ने बड़ी रसमयता के साथ अपनी प्रसिद्ध वक्रोक्तिपूर्ण शैली में किया है। बाण ने अपनी आत्म-कथा क्यों लिखी, इसके पीछे कई रहस्य छिपे मालूम होते हैं, जिनमें एक यह लगता है कि हर्ष ने पहली मुलाकात में उसका जो अपमान किया था, उसका बदला वह निजी ढंग में लेना चाहता था। बाद में हर्ष ने जब उसका यथार्थ परिचय प्राप्त कर लिया तब उसने उसे बहुत सम्मानित किया था, पर बाण के समान स्वतंत्र-प्रकृति, तीव्र अनुभूतिशील प्रतिभाशाली कवि उस प्रथम अपमान की ज्वाला को किसी भी हालत में नहीं भूल सकता था। हर्ष अपने युग का 'चक्रवर्ती' सम्राट् था। वह केवल राजा ही नहीं, 'परमेश्वर' भी था : "चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी, भोक्ता ब्रह्मस्तम्भफलस्य, सकलादिराजचरितजयज्येष्ठमल्लो देव. परमेश्वरो हर्षः।" अर्थात् "परमेश्वर देव हर्ष एक ऐसे राज-कृषक के समान थे जिसके लिये चारों समुद्र चार क्यारियाँ हों, वह समग्र जगत् के फलों के भोक्ता थे और समस्त पूर्व के

* कुछ लोग द्विवेदी जी की इस रचना को बाणभट्ट का सच्चा काव्य-चरित समझने की भूल करते हैं। वास्तव में यह एक काल्पनिक उपन्यास है।

राजाओं के चरितों को जीतने वाले ज्येष्ठ-मल्ल थे।" इसलिये बाण न तो उससे प्रत्यक्ष वैर मोल ले सकता था न प्रकट में उसकी किसी आज्ञा या संकेत का उल्लंघन कर सकता था। पर अपने ढंग से बदला लेने से वह न चूका। हर्षचरित लिखने के बहाने आत्म-चरित लिखकर और उसे हर्ष-चरित से भी अधिक महत्ता देकर युगों तक अपनी सुन्दर काव्य-रचना का आनन्द लेने वाली सुसंस्कृत जनता के आगे वह सदा के लिये यह प्रमाण छोड़ गया कि हर्ष महान् सम्राट् होने के साथ ही कुछ विषयों में कितना नीच था और एक आत्माभिमानी कवि का अपमान करने का फल कैसा विकट और सस्थायी हो सकता है। यदि बाण का यह उद्देश्य न होता तो हर्षचरित में इस बात की चर्चा करने का अर्थ ही क्या हो सकता था कि हर्ष ने कटु व्यंग्य द्वारा उसे अपमानित किया? काव्य-रस-प्रेमी पाठकों के आगे अपने अपमान का रोना रोने से बाण जैसे गर्वीले कवि को क्या लाभ हो सकता था? दूसरा कोई कवि उसके स्थान पर होता तो वह निश्चय ही अपने उस अपमान की बात को छिपाकर केवल राजा से प्राप्त प्रसाद का ही उल्लेख करता। पर बाण ने, सब-कुछ जानते और समझते हुए, निश्चित योजना के अनुसार अपनी अवमानता की चर्चा की और केवल उसी एक तथ्य से युग-युग के पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से 'हर्षचरित' का दूसरा उच्छ्वास लिखा गया है।

घटना क्या और कैसे घटी और बाण ने किस निर्भीकता से हर्ष के मुँह पर अपमान का उत्तर दिया, इसका उल्लेख आवश्यक है। लंबे प्रवास के बाद जब बाण घुमक्कड़ी जीवन बिताकर अपने गाँव—प्रीतिकूट में लौटा, तब उसके जीवन में काफी स्थिरता आ गयी थी और नव-यौवनावस्था की चंचलता दूर होकर उसके स्वभाव में प्रौढ़ता का गाँभीर्य आ गया था। गरमी के दिन थे। सूर्य की किरणें प्रचंड से प्रचंडतर होती जाती थीं, तालाब सूख गये थे, श्रोत क्षीण पड़ गये थे, झिल्लियों की झंकार और कातर कपोतों के कूजन से विश्व बधिर-सा हो रहा था,

असूर्यम्पश्या कुमुदिनी की तरह महिलाएँ घर के भीतर अँधेरे कमरों में सो रही थीं, महाकाल जैसे समुत्फुल्ल मल्लिका के धवल अट्टहास के साथ जँभाई लेता हुआ कल्पान्त के उद्देश्य से मुँह बाये हुए था। नवोदित ग्रीष्मकाल ने वसंतरूपी सामंत को जीतकर सभी कुसुमों के बंधन ठीक उसी तरह खोल दिये थे जैसे कोई राजा शत्रुओं को जीतने पर बंदीगृह से बन्दियों को मुक्त कर देता है, सुन्दरियों के सीमंत के सिंदूर की तरह मंदार के फूलों से सीमाएं लोहितायमान हो रही थीं, शेरों के बच्चे धातकी के लाल-लाल गुच्छों को रुधिर समझकर चाट रहे थे, धूल के बवंडर ऐसे लगते थे मानो आरभटी नृत्य में नट नाच रहे हों; मृग-तृष्णाओं के झिलमिलाते जल में जैसे निदाघ-काल तैर रहा था; सूखी करंज की फलियों के बीज बज रहे थे; सेमल के डोडों के फटने से रूई बिखर रही थी; सूखे बाँस चटक रहे थे; साँप केंचुलियाँ छोड़ रहे थे और गुंजाफल अंगारे उगल रहे थे। ऐसे प्रचंड गीष्मकाल की दुपहरी में जब बाण भोजनोपरांत शांत बैठे थे तब यह समाचार मिला कि चतुःसमुद्राधिपति, सकलराज-चक्र-चूड़ामणि, महाराजाधिराज, परमेश्वर श्री हर्ष के कृष्ण नामक भाई द्वारा भेजा गया एक अत्यन्त विश्वस्त दूत आया हुआ है।

उस दूत तथा पत्रवाहक का नाम मेखलक था। मिट्टी लगने से मैली पेटी से उसका चंडातक (आधी जाँघ तक का लहँगा नुमा अधोवस्त्र) बँधा था, कपड़े के फीते की बंधी हुई गाँठ के दोनों छोर उसकी पीठ पर फहरा रहे थे। चिट्ठियों की माला उसके सिर पर बंधी थी। वे चिट्ठियाँ गाढ़े सूत से बीचों-बीच बाँध दी गई थीं, जिससे उनमें विभाजक चिह्न पड़ गये थे।

मेखलक ने सिर से एक पत्र निकालकर बाण को देते हुए कहा : "स्वामी ने यह पत्र भेजा है।" बाण ने पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था : "मेखलक से संदेश जानकर फल के बाधक विलंब को प्रश्रय न देना। शेष ज्ञातव्य बातें मौखिक संदेश से ज्ञात होंगी।"

बाण ने परिजनों को चले जाने के लिये कहा और मेखलक से एकांत में संदेश पूछा, जो इस प्रकार था : आप दूरस्थ के प्रति मेरा हृदय इस तरह स्निग्ध हो रहा है जैसे समीप रहने वाले बन्धु के प्रति। आपके पीछे दुर्जनों ने चक्रवर्ती (हर्ष) से तरह-तरह की बातें आपके विरोद्ध में कही हैं। मैं जानता हूँ कि वे सब बातें सत्य नहीं हैं। सज्जनों में भी कोई ऐसा नहीं होता जिसके मित्र, उदासीन और शत्रु न हों। आपका चित्त शिशु-सुलभ चपलताओं से पराङ्मुख नहीं था, इसलिये किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने कुछ उलटी-सीधी बातें कह दीं और लोग उन्हें सच समझकर दुहराने लगे। अविवेकी व्यक्तियों का मन जल की तरह चंचल होता है और दूसरों की (बिना परखी हुई) बातों पर सहज ही विश्वास कर लेता है। अनेक मूर्खों के मुँह से एक ही तरह की बात सुनकर सम्राट ने भी अपना मन स्थिर कर लिया। पर मैं बराबर सत्य की खोज में रहता हूँ और आपके दूर रहने पर आपको प्रत्यक्ष की तरह जानता हूं। इसलिये मैंने चक्रवर्ती (हर्ष) को आपके संबंध में यह सूचित किया कि प्रथम वयस में सभी चपलताएँ करते हैं। स्वामी ने यह बात मान ली। इसलिये आप अविलंब राजकुल में आवें। जिस तरह फल रहित वृक्ष सूर्य से दूर रहता है उसी तरह आप सम्राट से दूर रहते हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। आपको न तो सेवा की विषमता से विषाद ही होना चाहिये, न सम्राट के समीप आने से भय..."

इसके आगे कृष्ण ने अपने संदेश में यह भी कहला भेजा कि हर्ष दूसरे राजाओं की तरह घमंडी, ओछी प्रकृति के और अनुदार नहीं हैं, और साथ ही वह रत्नों के और गुणियों के सच्चे पारखी भी हैं।

बाण के लिये उक्त संदेश भेजने वाले "सबके अकारण बंधु" कृष्ण कौन थे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। बाण ने उन्हें हर्ष का भाई बताया है। पर हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन के केवल दो पुत्र थे—राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन—और एक पुत्री थी जिसका नाम राज्यश्री था। सम्भवतः कृष्ण हर्ष के रिश्ते के कोई भाई रहे होंगे। जो भी हो,

उनके संदेश से हमारे आगे कुछ तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। उससे एक बात तो यह प्रकट होती है कि हर्ष के मिलने के पूर्व ही बाण की ख्याति फैल चुकी थी। केवल ख्याति ही नहीं, बल्कि कुख्याति भी फैल चुकी थी पर एक चक्रवर्ती सम्राट के आगे किसी कवि की कुख्याति तभी फैल सकती थी जब विद्वज्जनों के आगे उसकी काव्य-प्रतिभा की प्रसिद्धि प्रचारित हो चुकी हो, अन्यथा किसी साधारण कवि के विरुद्ध सम्राट के कान भरने की कोई आवश्यकता ही कोई निन्दक क्यों महसूस करता और सम्राट ही क्यों उस निन्दा में दिलचस्पी लेते! स्वयं कृष्ण ने बाण से जो हर्ष से मिलने का आग्रह किया और उसके प्रति आंतरिक सौहार्द प्रदर्शित किया उसका कारण भी स्पष्ट ही यह है कि वह उसकी प्रतिभा का परिचय पाकर उसकी कविता के रसग्राही बन चुके थे। दूसरी बात यह है कि कृष्ण को इस बात का पता पहले ही से था कि बाण स्वतन्त्र प्रकृति का कवि है और किसी राजा या राज-दरबार की सेवा सहज में स्वीकार न करेगा।

मेखलक से संदेश सुनकर बाण को उस रात नींद न आयी। पलंग पर लेटे-लेटे उसके मन में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे। वह सोचने लगा: "क्या करूँ। सेवा कष्ट-दायक है; दासत्व विषम है; महान् राजकुल अति गम्भीर और कष्ट-समाकुल है। न मेरे पुरखों द्वारा उस कुल से प्रीति की परम्परा चली आती है, न हम लोगों का कोई उपकार ही, उस राजकुल द्वारा हुआ है। वहाँ न विद्या के प्रति ही विशेष कुतूहल पाया जाता है, न मुझे ही यह आशा या प्रलोभन है कि वहाँ जाकर मैं ज्ञान-संबंधी विषयों की चर्चा करके लाभान्वित हो सकूँगा। न मेरा राजा के प्रिय पात्रों से कोई परिचय है और न विपुल अर्थव्यय करके वहाँ के लोगों को वश में करने की क्षमता ही मैं रखता हूँ। फिर भी एक बार जाकर देखना ही चाहिये। त्रिभुवन गुरु भगवान् पुरारि सब प्रकार से मेरी रक्षा करेंगे।"

यह निश्चित है कि बाण किसी आर्थिक प्रलोभन से नहीं, बल्कि

विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का जो अदम्य और अतृप्त कुतूहल उसके भीतर जन्मजात था, उसी की प्रेरणा से जाने को तैयार हुआ।

दूसरे दिन सवेरे ही स्नानादि से निवृत्त होकर, धवल दुकूल धारण कर अक्षमाला हाथ में लेकर उसने प्रस्थान के उपयुक्त वैदिक सूक्त तथा मंत्र बार-बार पढ़े, देवों के देव, शिव की मूर्ति को दूध से नहाया, सुगंधित फूल, धूप, गंध, ध्वजा, बलि, लेप और दीप से पूजा की। पहले ही से डाले गये घृत से तरल तिलों के चटखने से जिसकी शिखाएं चंचल तथा मुखर हो रही थीं, पर्याप्त घी डालने से जिसकी दक्षिण शिखाएं ऊपर को उठती हुई बढ़ रही थीं; ऐसे भगवान आशुशुक्षणि (अग्नि) का हवन किया। द्विजों को यथाशक्ति धन दिया। पूर्व की ओर मुँह किये खड़ी सुन्दर अंगों वाली होमधेनु की प्रदक्षिणा की। उजले लेप, उजली माला तथा उजले वस्त्र से अपने को विभूषित किया। रोचना से लिपी दूब के अाग्रभाग से गूँथे गिरिकर्णिका कुसुमों से कानों को अलंकृत किया। सिर के ऊपर शिखा पर सरसों रखी। माता के सदृश, स्नेह से आर्द्र हृदय वाली, श्वेत वस्त्रों से विभूषिता, साक्षात् भगवती महाश्वेता के समान, पिता की बहन (फूफी) मालती ने यात्रा के समय किये जाने वाले सभी मंगलाचार किये। बंधुओं के घरों की बड़ी-बूढ़ियों ने आशीर्वाद दिये। वृद्धा सेविकाओं ने अभिनंदन किया। वंदितचरण गुरुओं ने आज्ञा दी। कुलवृद्धों ने स्नेह से उसका सिर सूँघा। पक्षियों ने यात्रा के लिये उत्साह बढ़ाया। ज्योतिषियों के मन के अनुसार उसके नक्षत्रों की कामना पूरी की (अर्चना की), शुभ मुहूर्त में हरे गोबर से लिपे आँगन के चबूतरे पर रखे पूर्ण कलश को देखा। उस कलश का कंठ धवल कुसुमों की माला से सुशोभित था, धुले हुए आटे में भिगी पाँचों उँगलियों के चिन्ह से श्वेत और मुँह पर रखे आम्र-पल्लवों से युक्त था। कुल-देवताओं को प्रणाम कर, फूलों और फलों को हाथ में लेकर वैदिक मंत्रों का पाठ करते हुए द्विजों के साथ उसने प्रीतिकूट से प्रस्थान किया।

पहले दिन धीरे-धीरे चंडिका कानन पार करके वह मल्लकूट नामक

ग्राम में पहुँचा। वहाँ जगत्पति नामक रिश्ते के एक भाई और अंतरंग मित्र के यहां रात बितायी। दूसरे दिन भगवती भागीरथी को पार कर उसने दृष्टिग्रहक नामक जंगली गाँव में डेरा डाला। तीसरे दिन वह अजिरवती (राप्ती) के किनारे मणितार नामक नगर के समीप पहुँचा, जहाँ हर्ष दल-बल सहित छावनी डाले हुए था। वहाँ राजभवन के पास ही वह ठहरा।

स्नान-भोजन और विश्राम करके, एक पहर दिन शेष रहने पर, राजा के भोजन कर चुकने के बाद, प्रसिद्ध भूपों के अनेक शिविरों को देखता हुआ वह मेखलक के साथ धीरे-धीरे राजद्वार पर गया, जो हाथियों के झुंड से शोभायमान हो रहा था। कुछ हाथी तो नये बाँधे गये थे, कुछ कर-स्वरूप प्राप्त किये गये थे, कुछ उपहार में आये थे और कुछ पालने वालों ने भेज दिये थे। कुछ पल्ली-पतियों ने भेंट किये थे, कुछ दिये गये थे और कुछ छीन लिये गये थे। सभी देशों को जीतने की इच्छा से सागर-सेतु बाँधने के लिये पर्वतों के सदृश वे एकत्र किये गये थे।

वह राजद्वार तुरंगों से तरंगित हो रहा था। झनझन चलते खुरों से मृत्तिका रूपी मृदंग बजाकर वे घोड़े मानो राजलक्ष्मी को नचा रहे थे। हर्ष से हिनहिनाते हुए वे मानो उच्चैःश्रवा को युद्ध के लिए ललकार रहे थे। सूर्य के रथ के घोड़ों के प्रति रोष होने से वे जैसे आकाश में उड़ रहे थे।

कहीं-कहीं वह राजद्वार कपि कपोल कपिल कमेल[1] कुंज से कपिलायमान हो रहा था। छोटे-छोटे श्वेत चामरों से उनके मुख मंडित होने से वे मानो संध्याकालीन छाया के टुकड़े थे जो ताराओं से शोभित हों। लाल चामरों से उनके कान भूषित होने से वे मानो लाल धान के खेत थे, जो लाल कमलों से युक्त हों। वे झनझन-झनझन शब्द करते हुए सोने के सुन्दर घुंघरुओं के हारों से अलंकृत थे। लगता था जैसे वे

---

१. ऊँट : अंगरेजी 'केमल'।

जीर्ण करंज वृक्ष के बन हों, जिनके सौ-सौ सूखे कोशों के भीतर सूखे बीज बज रहे थे।

कहीं-कहीं वह राजद्वार शुभ्र आतपत्रों (छाताओं) से श्वेत हो रहा था। वे चमकीले प्रवाल-पुंज से युक्त क्षीरसागर के टुकड़ों के समान थे ; राजहंसों से सेवित गंगा के श्वेत पुलिनों के तुल्य थे। वे दिवस को ज्योत्स्नामय-सा बना रहे थे, आकाश को फेनमय-सा प्रदर्शित कर रहे थे, असमय में ही वे मानो हज़ार-हज़ार चन्द्रिकाओं का सृजन कर रहे थे।

वह स्थान पराजित शत्रु-सामंतों से भरा हुआ था। सम्राट् के प्रताप के अनुराग से भी नाना देशों के महीपाल वहाँ आए हुए थे। वे सब सम्राट् के दर्शन की प्रतीक्षा में बैठे थे। वहाँ जैन, आर्हत, शैव, पाराशरी भिक्षु और ब्रह्मचारी एकान्त में बैठे हुए थे। वहाँ सभी देशों के निवासी तथा सागरों के तीरवर्ती जंगलों में रहने वाली म्लेच्छ जातियों के लोग वर्तमान थे। सभी देशों के राजदूत भी वहाँ उपस्थित थे।

बाण छोटी-छोटी बातों और दृश्यों के निरीक्षण में अपने सहज कुतूहली स्वभाव के कारण इस तरह व्यस्त हो गया कि सम्राट से मिलने की बात ही भूल गया। आगे चलकर उसने अश्वशाला देखी और देखा सम्राट् का सबसे प्रिय हाथी दर्पशात, जिस पर सम्राट् स्वयं चढ़ा करते थे। उसने स्वयं प्रसिद्ध दर्पशात को देखने का आग्रह किया था। वह दर्पशात अपने स्थूल और तेज दाँतों वाले आरे से मानो संसार रूपी खभे को काट रहा था। संसार के भीतर न समा सकने के कारण मानो वह बाहर निकलने की इच्छा कर रहा था। वह अभियान का क्रीड़ा-पर्वत था, जहाँ चट्टानों से (मद-जल) धाराएं निकल रही थीं। वह गर्व का व्रज-मन्दिर था, जो दाँतों के तोरण से युक्त था। वह राज्य का चलता-फिरता गिरिदुर्ग था, जो कपोल रूपी गुंबजों से युक्त था।

बाण दर्पशात हाथी के निरीक्षण में इस कदर तल्लीन हो गया था कि वहाँ से हटता नहीं था। द्वारपाल को उसे याद दिलानी पड़ी कि वह हाथी को देखने के लिए नहीं वरन् सम्राट् से मिलने आया हुआ है। अनिच्छा से वहाँ से बाण द्वारपाल के साथ आगे बढ़ा। मुक्ता स्थान मंडप (जो दीवाने खास की तरह था) के सामने एक छोटे आँगन में उसने चक्रवर्ती हर्ष को देखा। वह लम्बे, कर्णिकार फूल के समान गोरा, व्यायाम से दृढ़ शरीर वाला, शस्त्रधारी, पंक्तिबद्ध परिचारकों में घिरा था—मानो वे सोने के खंभे हों। महानील मणियों से निर्मित एक बहुमूल्य पादपीठ पर, जो माणिक्यों की मालाओं से घिरा था, वह अपना बायां पैर रखे हुए ऐसा मालूम हो रहा था जैसे बाल-पुण्डरीकाक्ष कालिय नामक सर्प के फनों पर आक्रमण किए हुये हो। मानो कालिय के काले शिर को वह लीलापूर्वक पैर से दबाये हो।

वारविलासिनियों से घिरे रहने से मानो हर्ष का सौन्दर्य लुप्त हो रहा था। विलासपूर्वक चलने से चंचल भ्रूलताओं के द्वारा वे मानो ईर्ष्या से राजलक्ष्मी का तर्जन कर रही थीं। काँपते हुए कर-किसलयों से चरण दबाने वाली परिचारिका के सिर पर उसने मुस्कराते हुये कोण[1] से चोट की। हाथ से अनवरत कोण पकड़ता हुआ वह मानो अपनी प्रिय वीणा तथा राजलक्ष्मी को भी शिक्षा दे रहा था।

हर्ष को देखकर बाण कुछ देर तक कुतूहल और विस्मय से भरा रहा। 'तो यही हैं प्राचीन राजाओं के चरित्रों को जीतने वाले प्रधान मल्ल, देव परमेश्वर हर्ष!' उसने अपने मन में सोचा।

निकट आकर उसने 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण किया। तब राज-मंडप से कुछ ही दूर उत्तर की ओर एक गज-परिचारक ने ऊँचे स्वर से गाया :

---

१. वीणा बजाने का धनुष। इसका एक अर्थ 'कोड़ा' भी है।

करिकलभ विमुंच लोलतां चर विनयप्रनयानताननः ।
मृगपतिनख कोटि भंगुरो ग्रहरुपरि क्षमते न तेऽग्रंकुशः ॥

अर्थात् "हे हस्ति-शावक, तू चंचलता को छोड़ दे, सिर झुकाकर विनय-वृत का आचरण कर। ऊपर का बड़ा अंकुश, जो सिंह के पंजों के समान कुटिल है, तुम्हारे दोषों को नहीं सह सकता।"

यह अन्योक्ति जैसे बाण के आगमन के सम्बन्ध में पूर्व योजनानुसार सुनायी गयी थी, जैसे बाण को सुनाते हुए यह कहा गया था कि "तू बहुत चपलताएं करता है, और अविनयी है, किंतु अब तुझे राजा के अंकुश का भय मानकर चलना होगा।" सम्भवतः हर्ष को भी पहले ही से यह गुप्त सूचना दी गयी थी कि जब उक्त श्लोक पढ़ा जायगा तब समझ लेना होगा कि बाण आ गया है। क्योंकि उसे सुनते ही हर्ष ने प्रश्न किया : "एष स बाणः ?"—क्या यही वह बाण है ? द्वारपाल ने उत्तर दिया : "देव का कहना बिलकुल सही है। यही वह है।" हर्ष ने कहा : "जब तक मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूँ तब तक उसे नहीं देखूँगा।" अर्थात् नहीं मिलूंगा। इतना कहकर वह (हर्ष) किंचित् पीछे की ओर मुड़ा और तिरछी दृष्टि के संकेत से पीछे बैठे हुए मालवराज से बोला : "महानयं भुजंगः।" अर्थात् "यह बाण बड़ा लंपट या 'लोफर' है।"

सुनकर सब लोग स्तब्ध और मूक रह गये। मालवराज ने समझकर भी कुछ न समझने का भाव जताया। जिस प्रकार परशुराम के प्रति लक्ष्मण के वचन सुनकर "अनुचित कहि सब लोग पुकारे", उसी प्रकार हर्ष के वचन को एक ख्यात कवि के लिये अनुचित समझकर सब लोग मौन रह गये। स्वाभिमानी बाण तिलमिला उठा। राजसभा के सन्नाटे को भंग करता हुआ तेज-भरे शब्दों में बोला : "देव, आप यह क्या फरमा रहे हैं ? लगता है जैसे आप तत्त्व से अज्ञात हैं, और सत्य से अपरिचित हैं, श्रद्धा और विश्वास से रहित हैं, पर-बुद्धि द्वारा परिचालित (नेय) हैं और लोकवृत्तांत से एकदम अविदित हैं। साधारणतः लोगों का स्वभाव और प्रवाद विचित्र और स्वेच्छाचारी होते हैं। किंतु महत्

व्यक्तियों को तो यथार्थदर्शी होना चाहिये। मुझे आप किसी साधारण और अविशिष्ट व्यक्ति की तरह अन्यथा न समझें। (अर्थात् मैं कोई ऐरा-गैरा आदमी नहीं हूँ।) मैं सुप्रसिद्ध, सोमपायी वात्स्यायन वंश में उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मेरे उपनयन आदि सभी संस्कार यथासमय किये गये हैं। मैंने वेदों का सांगोपांग सम्यक् अध्ययन किया है। शास्त्रों का श्रवण और मनन किया है। विवाह के समय से लेकर अब तक बराबर सद्गृहस्थ (अभ्यान्तरिक) रहा हूँ। मुझ में क्या भुजंगता (लंपटता) है? (का मे भुजंगता?) यह ठीक है कि मेरा बाल्यकाल चपलताओं से शून्य नहीं था। पर वे चपलताएं ऐसी न थीं जो इस लोक या परलोक के विरुद्ध पड़ती हों। समय आने पर आप स्वयं मुझे पहचान लेंगे, क्योंकि ज्ञानवान लोग विरोधी संस्कार या पूर्वग्रह द्वारा (अधिक समय तक) परिचालित नहीं रहते।"

पहले ही से असंतुष्ट चक्रवर्ती सम्राट् के मुँह पर जवाब देते हुए इस प्रकार समुचित दर्प और तेज-भरे शब्दों में जब बाण ने अपने चरित्र के विषय में घोषणा की होगी तब निश्चय ही सभा के लोगों पर उसका बहुत प्रभाव पडा होगा। स्वयं सम्राट् से प्रत्युत्तर में कुछ कहते न बन पड़ा। जीवन में पहली बार उसने एक ऐसे तेजस्वी ब्राह्मण को देखा जो सत्य के लिये किसी पार्थिव सम्राट से क्या, समस्त जगत् के नियंता के आगे भी भीत नहीं हो सकता था। वह केवल इतना ही कहकर रह गया कि "एवम-स्माभिः श्रुतम्", (हमने ऐसा सुना था)।" फिर भी उसने (हर्ष ने) अपने झूठे 'प्रेस्टिज' की रक्षा के लिये संभाषण आसन-दानादि द्वारा उसे अनुगृहीत नहीं किया, केवल उसकी दृष्टि से बाण को लगा कि वह उसके प्रति पहले से अधिक स्नेहशील हो उठा है।

उसके बाद बाण फिर राज-शिविर में न ठहरा। वह अपने बन्धुओं और सुहृदों के बीच में रहा। बाद में जब सम्राट ने अपनी भूल महसूस होने पर स्वयं ही उसे बड़े आदर के साथ बुलाया तब वह गया। फिर तो हर्ष उसकी तीव्र प्रतिभा, चारित्रिक दृढ़ता और स्वभाव की तेजस्विता

से इस कदर प्रभावित हुआ कि कुछ ही दिनों में उसने उसे सम्मान, प्रेम, विश्वास, धन और प्रभाव की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

बाण ने हर्ष को जो उत्तर दिया उसकी शब्दयोजना के भीतर वास्तविक अर्थ में ऐसी निगूढ़ वक्रोक्ति और व्यंग्य भरा है जो केवल बाण द्वारा ही सम्भव था। उसने हर्ष को "अविज्ञाततत्त्व" कहा, जिसका एक अर्थ है तात्त्विक ज्ञान से रहित अर्थात् अज्ञ अथवा मूर्ख। उसने इसे 'नेय' कहा, जिसका अर्थ है दूसरे के द्वारा नीत हो सकने वाला अथवा पर-परिचालित। किसी को केवल 'नेय' (या 'नेतव्य') कह देने से कोई अर्थ नहीं होता। यहाँ पर निश्चय ही बाण की प्रत्युत्पन्नमति के आगे कालिदास के सुप्रसिद्ध श्लोक का यह पद उभर आया होगा :

मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

"मूर्ख लोगों की बुद्धि दूसरों के विश्वासों के अनुसार चलने वाली होती है।" अर्थात् वे लोग स्वयं अपनी बुद्धि से भले और बुरे, सत्य और मिथ्या, उचित और अनुचित का निर्णय कर सकने में असमर्थ होते हैं। बाण की वक्रोक्ति का आशय स्पष्ट ही यह कहता था कि हर्ष उसके सम्बन्ध में स्वयं प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त किये बिना ही दूसरों से सुनी-सुनायी बातों पर विश्वास कर बैठा, इसलिये वह कालिदास की उक्ति के अनुसार मूर्ख है।

तीसरी बात बाण ने हर्ष के सम्बन्ध में यह कही कि वह 'अश्रद्धावान' है, अर्थात् उदार और उदात्त-चरित्र पुरुषों में श्रद्धा और विश्वास का जो भाव सहज ही वर्तमान रहता है उसका उसमें सर्वथा अभाव है। भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुसार किसी भी व्यक्ति में श्रद्धा का अभाव होने का अर्थ यह समझा जाता रहा है कि वह अभिजातवंशीय गुणों से रहित है। इससे बड़ी निन्दा हर्ष की और कोई नहीं हो सकती थी।

मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि बाण पहली भेंट में हर्ष द्वारा किये गये तिरस्कार और अपमान की बात को कभी न भूल पाया। यह ठीक

है कि बाद में उसने हर्ष-चरित्र-वर्णन के सिलसिले में काव्यालंकारपूर्ण शब्दों में हर्ष की प्रशंसा भी की है, पर वह केवल खोखला शब्दाडंबर है। यह तो सुस्पष्ट है कि हर्ष का संकेत पाकर उसके मंत्रियों ने बाण को हर्ष-चरित लिखने के लिये प्रेरित किया। सम्राट की इच्छा को उस युग में टाल सकना किसी आत्माभिमानी कवि के लिये भी आसान नहीं था। बाण ने स्वयं लिखा है कि वह राजा की भक्ति से 'भीत' होकर हर्षचरित लिखने बैठा है। पर बाण ने इस रूप में बदला लिया कि अपनी रचना में हर्ष-चरित की अपेक्षा बाण-चरित को अधिक महत्त्व दिया और अपने अपमान का उल्लेख सोद्देश्य करके युग-युगों के पाठकों के आगे यह सिद्ध कर दिया कि 'भुजंगता' उसमें नहीं, बल्कि स्वयं सम्राट् में काफी हद तक वर्तमान थी।

बाण ने हर्ष-चरित्र पूरा लिखा भी नहीं। इसका कारण सुस्पष्ट ही यह है कि उसकी भीतरी इच्छा उसे पूरा करने की नहीं थी। हर्ष ने अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्य की एकदम डगमगायी हुई स्थिति को किस तरह स्थिर, सुदृढ़ और सुसंगठित बनाया और किस प्रकार अपने पराक्रम से शत्रुओं को परास्त किया, नये-नये राज्यों को जीतकर साम्राज्य स्थापित किया, इन सब बातों का कोई उल्लेख हम हर्ष-चरित्र में नहीं पाते। हर्ष-चरित की समाप्ति उस स्थान पर हो जाती है जहाँ हर्ष के पिता की मृत्यु, बड़े भाई की शत्रु-द्वारा हत्या, बहन राज्यश्री का कारागार के बन्धन से छुटकारा पाकर विंध्याटवियों की ओर पलायन, आदि घटनाओं से शोकाभिभूत, खिन्न और परेशान रहने के बाद दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध-भिक्षु के तत्त्वावधान में बहन राज्यश्री को तब तक के लिये छोड़ जाना चाहता है जब तक वह शत्रुओं को पराजित करके राज्य में प्रतिष्ठित न हो जाय। यहीं पर हर्ष-चरित समाप्त हो जाता है। हर्ष के पराक्रम, वदान्यता, सांस्कृतिक रुचि, धार्मिक कार्य आदि का कोई परिचय हमें इस रचना से प्राप्त नहीं होता। इसीलिये में कह रहा था कि बाण ने हर्ष-चरित से अधिक बाण-

चरित के महत्त्व की स्थापना की है।

बाण ने सेवा-धर्म की तीव्र-निन्दा आत्म-चरित में भी की है और हर्ष-चरित के सप्तम उच्छ्‌वास में तो एक लंबा प्रकरण ही राज सेवकों अथवा सरकारी कर्मचारियों की अत्यन्त दयनीय दशा पर लिख डाला है, जो आज के युग में भी लागू होता है।

बाण इस प्रसंग में कहता है : "आत्माभिमानी मनस्वी के लिये क्षण-भर भी मानवता के गुणों के साथ जीना श्रेयस्कर है, पर सिर झुकाकर दीर्घकाल तक त्रैलोक्य के राज्य का उपभोग भी अच्छा नहीं।" "राज-सेवक मीठी बातें करने वाला (सुखप्रियरत) नपुंसक है, गलित मांसमय क्रीड़ा है। अगण्य 'नरक' (लघुतर) है, चापलूसी से भरे मीठे बोल बोलने वाला नर-कोकिल है, जमीन पर छाती रगड़कर चलने वाला मोटा कछुआ है, नीचतापूर्ण ढंग से खुशामद करने वाला कुत्ता है, दूसरों को प्रसन्न करने के लिये शरीर के विविध अंगों को कष्ट से तोड़ने-मरोड़ने और नाना प्रकार की मुद्राएं बनाने में वेश्या के समान है, कराभि-घात सहने में कंदुक और कोणाघात (बीणा बजाने का धनुष तथा कोड़ा) सहने में बीणादंड है।"

वह एक अनुभवी, प्रत्यक्षदर्शी कवि की उक्ति है जो इस स्थिति में परिस्थितिवश फँसने पर भी स्वयं उससे उभरकर आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मा-मर्यादा को कायस रखने में समर्थ रहा है।

सामन्तों और राजाओं के आश्रय में रहने वाले अपने युग के प्रतिभा-हीन खुशामदी और परद्वेषी कवियों को भी बाण ने धिक्कारा है :

प्रायः कुकवयः लोके रागाधिष्ठितदृष्टयः।
कोकिला इव जायन्ते वाचालाः कामकारिणः।
संति श्वान इवासंख्याः जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव॥

अर्थात् "इस समय संसार में प्रायः ऐसे कुकवि भरे पड़े हैं जिनकी दृष्टि राग-द्वेष से दूषित है, जो कोकिलों की तरह वाचाल (बक्काल) तथा

मिठबोले हैं और (आपने आश्रयदाताओं की) काम-वासना जगाना ही जिनका धर्म है।

आज घर-घर में कुत्तों के समान ऐसे असंख्य कवि वर्तमान हैं जो इतिवृत्तात्मक वर्णन के अतिरिक्त कोई कला नहीं जानते। शरभ की तरह मौलिक उत्पादनवाले और नव-निर्माणकारी कवियों की संख्या अधिक नहीं है।"

बाण ने ये धिक्कार भरे शब्द एक अधिकारी की हैसियत से कहे हैं। उसकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने केवल नयी शैली और नये रूप-विधान के क्षेत्र में ही चमत्कार नहीं दिखाया, बल्कि शब्द और अर्थ, अर्थ और भाव, भाव और चित्र, चित्र और काव्य, काव्य और रस, रस और उद्‌बुद्ध चेतना के बीच अन्योन्याश्रित और अविभाजित संबंध की स्थापना करके उन सब के रासायनिक सम्मिश्रण से ऐसे-ऐसे नये-नये रसों का उद्‌भावन किया जिनकी कल्पना भी उसके पहले के कवि नहीं कर सकते थे। जो लोग बाण की शैली को केवल शब्दाडंबर-पूर्ण मानते हैं, और शब्दावरण के भीतर की गहराइयों में पैठने में असमर्थ हैं वे सोच भी नहीं सकते कि बाण की सूक्ष्मदर्शी चित्रात्मिका कला अपने भीतर चेतना के उच्च स्तरों को उद्‌बोधित करने वाले कैसे अभिनव और अनुपम रसों तथा जीवन के अपूर्व रहस्यमय तत्त्वों को आश्चर्यजनक कौशल से समाहित किये हुए है। बाण की 'आक्लिष्ट श्लेषात्मक' शैली-समन्वित वाक्य या पद का एक शब्द क्या एक अक्षर भी ऐसा नहीं होता जो केवल आडंबर या शब्द-चमत्कार के लिये लिखा गया हो। उसका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक अक्षर गहन भावात्मक रसों को स्फुटन के उद्देश्य से अनिवार्य रूप से आवश्यक और उपयुक्त सिद्ध होता है।

सातवीं शती का जो स्वतन्त्र-चेता कवि बीसवीं शती के विज्ञानवादी रस-मर्मज्ञों पर भी अपनी मौलिक कला, विचार-धारा और व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ सकता है, उसकी असाधारण प्रतिभा का समुचित

विवेचन और विश्लेषण कोई साधारण काम नहीं है। हर्ष का विषय है कि हिंदी के विद्वान आलोचकों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने हर्ष-चरित पर जो विद्वत्तापूर्ण खोज की है वह इस बात का एक उदाहरण है। पर अभी बहुत कुछ खोज बाकी है। बाण-चरित को और बाण की कृतियों को नये दृष्टिकोण से, नये 'एप्रोच' से अध्ययन करने की आवश्यकता आज आ पड़ी है। आज के युग के और बाण के युग के संयोजन के बीच की कड़ियों को ढूंढ़ निकालना होगा। विद्वानों से मेरा आग्रह है कि बाण-चरित के सम्बन्ध में जो नयी स्थापना मैंने की है उस पर विचार करें और उसके औचित्या-नौचित्य पर अपना मत प्रकाशित करें।